सत्यजीत राय का सिनेमा

सत्यजीत राय का सिनेमा

चिदानन्द दास गुप्ता

अनुवाद

अवध नारायण मुद्गल

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

आवरण : वाजिद अली शाह (अमजद खान) *शतरंज के खिलाड़ी*, 1977 में
आभार : निमाई घोष
अस्तर : अपु (सुबीर बनर्जी), सर्वजया (करुणा बनर्जी) तथा दुर्गा (उमा दास गुप्ता) *पाथेर पांचाली*, 1955 में। अतिथि (उत्पल दत्त) और बच्चे *आगंतुक*, 1991 में। आभार: टेक्नीका, निमाई घोष; *भीतरी चित्र* : *पाथेर पांचाली* से *चिड़ियाखाना*, आभार : टेक्नीका; *गोपी गायने बाघा बायने* से *आगंतुक*, *आभार* : निमाई घोष

पहला संस्करण सन 1980 में विकास पब्लिशिंग हाउस प्राइवेट लिमिटेड, नयी दिल्ली द्वारा प्रकाशित

ISBN 81-237-2135-8

पहला संशोधित एवं विस्तृत संस्करण : 1997 (*शक 1919*)

THE CINEMA OF SATYAJIT RAY (*Hindi*)

रु. 52.00

निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया, ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली-110016 द्वारा प्रकाशित

सुप्रिया के लिए

विषय सूची

प्राक्कथन

मैं आभारी हूं फिल्मोत्सव निदेशालय के श्री रघुनाथ रैना और सुश्री बिन्दु बतरा का, जिनके कारण मेरे मन में इस पुस्तक के प्रथम संस्करण को हाथ में लेने की इच्छा हुई और अल्पकालिक सूचना पर मेरे लिए राय की बहुत-सी फिल्में दोबारा देखने का प्रबंध किया गया। और अब मैं नेशनल बुक ट्रस्ट के निदेशक श्री अरविन्द कुमार का आभारी हूं जिनकी रुचि और सहायता के बिना यह नया संस्करण पूरा नहीं हो सकता था। श्री निमाई घोष भी मेरे आभार के पात्र हैं, जिन्होंने विशेष रूप से इस किताब के लिए अपने और दूसरों के स्थिर चित्रों के प्रिंट तैयार किये। भारत और विदेशों में सत्यजीत राय की कृतियों के प्रति लगातार रुचि बनी रहने के बावजूद मूल संस्करण वर्षों से अनुपलब्ध था। एक भारतीय द्वारा "राय का सिनेमा" पर लिखी गयी यह पहली पुस्तक थी, हालांकि यह काफी संक्षिप्त थी लेकिन सिनेमा को भली-भांति समझने वालों और सिनेमा प्रेमियों की रुचि को बनाए रखने वाली थी। अप्रैल 1992 में राय की मृत्यु के बाद दुनिया भर में उनके कार्य की प्रशंसा और बढ़ गई और अनेक कार्यों के सामाजिक संदर्भों और सौंदर्य संबंधी विशेषताओं को पूरी तरह समझने की इच्छा भी लोगों में बढ़ी। इस तरह एक संशोधित और अद्यतन तथा महत्वपूर्ण संस्करण को सबके सामने लाने में नेशनल बुक ट्रस्ट जुट गया। इस संस्करण में दिए गए अद्यतन विवरणों के कारण यह अतिरिक्त महत्वपूर्ण बन गया है।

—चिदानन्द दास गुप्ता

प्रस्तावना

पाथेर पांचाली को अपने प्रथम प्रदर्शन के लगभग चार दशक बाद एक बार फिर से देखना आज भी (लिंडसे एंडरसन के शब्दों में) घुटनों धूल में चलकर भारतीय यथार्थ और मानवीय दशा के हृदय में उतरना है।

भारतीय गांव की पीस डालने वाली गरीबी में *पाथेर पांचाली* लुइस माले के अज्ञात झुंड को नहीं देखती बल्कि एक मनुष्य को देखती है जो अपने प्रेम, प्रकृति और बचपन के आनंद में उतना ही अकेला है जितना कि मृत्यु के बिछोहकारी दुख में और अस्तित्व बनाये रखने के अपने अंतहीन दैनिक संघर्ष में। यह ग्रामीण गरीबी का मानवीय चेहरा है, इसके सांख्कीय कष्टों का नहीं। यह मानवीय चेहरा ही हमें अपु या दुर्गा, सर्वजया या हरिहर को अपने बीच के ही एक मनुष्य के रूप में दिखाता है। हम जान पाते हैं कि हरिहर एक कवि है, एक बुद्धिजीवीः सर्वजया क्षमता और गरिमायुक्त नारी हैः अपु सौम्य संवेदनशीलता वाला लड़का है और दुर्गा प्रकृति की सुंदर और निर्दोष बालिका है, वे हमारे ही एक अंग बन जाते हैं और हमारे भीतर कुछ बदल देते हैं और मानवता के प्रति हमारे दृष्टिकोण को भी।

सत्यजीत राय के काम की एक विशुद्ध "सौंदर्य शास्त्रीय" समीक्षा मुश्किल से ही संपूर्ण हो सकती है। राय शास्त्रीयतावादी थे, वे कला की उस पारंपरिक भारतीय दृष्टि के वारिस थे जिसमें सौंदर्य सत्य और शिव से अविभाज्य है। पश्चिमी संस्कृति की एक बहुत ही व्यापक शृंखला की सूक्ष्म समझ—जिसे 1949 में ज्यां रेनेवां ने "असाधारण" पाया था—के बावजूद यह भारतीयता है जो उन्हें भारत के संदर्भ में और उस माध्यम के संदर्भ में जो पश्चिम से आयातित था और जिसमें उन्होंने काम किया, महत्वपूर्ण बनाती है। उनके काम के सैंतीस वर्ष भारत में एक शताब्दी से भी अधिक की अवधि में आये सामाजिक परिवर्तनों का इतिहास हैं। *शतरंज के खिलाड़ी* में मुगल गौरव के अंततः अवसान से लेकर *जलसाघर* में सामंती जमींदार के पतन, अपु त्रयी में पारपंरिक से आधुनिक होते हुए भारत में कमजोर होते ब्राह्मणवादी आंदोलन, *देवी* और *चारुलता* में भारतीय कुलीन वर्ग की बौद्धिक विचारों के प्रति जागरूकता, *महानगर* में महिला मुक्ति की शुरुआत तक, फिर *प्रतिद्वंद्वी* में स्वतंत्रता

प्राप्ति के दशकों बाद बेरोजगार युवक का आक्रोश, *जन अरण्य* और *शाखा प्रशाखा* में भ्रष्ट समाज में सामाजिक चेतना की अपरिहार्य मृत्यु और अंततः अजांत्रिक में मानवीय आवश्यकताओं के सरलीकरण की एक नयी कार्य सूची में आशा की एक चमक और मूलभूत मूल्यों के प्रति आग्रह तक—राय का काम पहले आधुनिक भारत में मध्यवर्ग के सामाजिक विकास की आवश्यक रूपरेखा को तलाशता है और फिर इससे आगे की शुरुआत करता है।

राय के पहले दस वर्षों की फिल्में (1955-65) मानव मात्र में विश्वास की पुष्टि से उत्प्लावित हैं, अनेक समीक्षकों ने ऐसा उल्लेख किया है, अंतिम कुछ को छोड़कर राय की फिल्में खलनायक नहीं हैं। शोषक और शोषित दोनों ही शिकार हैं। अपने निकृष्टतम रूप में भी मनुष्य अच्छाई की मूलभूत संभावना का कुछ न कुछ अंश लिये रहता है। अतः भले वह किसी भी भूमिका में हो मनुष्य को करुणा की आवश्यकता होती है क्रोध की नहीं। राय के काम में पारंपरिक भारतीय "भाग्यवाद" के संकेत ही नहीं हैं बल्कि उससे कुछ अधिक है। इसमें एक अनासक्ति भाव है, घटना से दूरी बनाए रखने का। इसमें यह भाव अंतर्निहित है कि कोई भी व्यक्ति अपने जन्म के स्थान और समय का चुनाव नहीं करता या उन परिस्थितियों का चुनाव नहीं करता जिनके बीच वह घिरा रहता है। स्थान और काल द्वारा निर्धारित चक्र के बीच ही वह अपने अस्तित्व के लिए संघर्ष करता है, उपलब्ध अवसरों में से अपने लिए कुछ बनाने का प्रयास करता है। मनुष्य का आदर्श स्वयं प्रयास में ही निहित है, प्रयास की सार्थकता का यह ज्ञान मनुष्य के प्रयास का कुछ घटाता नहीं बल्कि इसे ऐसी स्वच्छता प्रदान करता है जो उन लोगों को उपलब्ध नहीं होती है जो सोचते हैं कि दुनिया को बदलने की ताकत उनके पास है, और इसलिए वे साध्य को साधन से ऊपर रखते हैं और अंततः ये साधन उन्हें भ्रष्ट बना देते हैं। राय के कार्य में अंतर्निहित दृष्टिकोण भारतीय और अतिप्रयुक्त शब्द के अर्थ में पारंपरिक, इसे जन्म और जीवन में आनंद प्राप्त होता है: मृत्यु का वहन यह गरिमा से करता है। यह उस ज्ञान से प्रसूत है जो अनासक्ति पैदा करता है और भय तथा व्यग्रता से मुक्ति प्रदान करता है। अनासक्ति या दूरी करुणा से मिलकर कलाकार के लिए यह संभव बनाती है कि वह वास्तविकता के एक व्यापक कोण को देख सके और फलक के विस्तार को विवरण की सूक्ष्मता से मिला सके। स्वतंत्रता बाध्य प्रारंभिक दशकों में आस्था मात्र "यहां के बाद" में ही में नहीं थी बल्कि "यहां और अब" में थी। सभी के लिए पर्याप्त प्रगति की कमी की निराशाओं के बावजूद एक मूलभूत विश्वास मौजूद था कि देर-सवेर देश अंगड़ाई लेगा कि भारत का पुनरोदय अपरिहार्य था। यही वह शब्द था जो नेहरू युग में पैदा हुआ था जो अब विपरीत दिशाओं में, कभी कभी उग्र रूप में खिंच गया है लेकिन एक क्षीण रूप में आज भी बना हुआ है, यद्यपि शायद निरंतर बढ़ते हुए भौतिकतावादी अर्थ में।

इसके विपरीत कुछ लोगों की समृद्धि उस बुद्धिजीवी में एक अपराधबोध पैदा कर देती है, जो अपनी शिक्षा के कारण, सुविधा प्राप्त छोटे वर्ग से संबंध रखता है। शायद दुनिया में कहीं भी गरीबी की इतनी चर्चा नहीं होती (और इसीलिए, कुछ लोग कहना चाहेंगे कि, इसके बारे में इतना कम किया जाता है) बातचीत के पीछे एक वास्तविक चिंता बनी रहती है, एक ऐसे कलाकार के मामले में और ज्यादा जो चेतनशील होता है और जनसंचार में सक्रिय होता है। सभी के लिए भौतिक समृद्धि अर्जित करने की आवश्यकता एक आध्यात्मिक प्रतिबंध पैदा कर देती है। वस्तुतः कलाकार को धार्मिक कला के प्रतिबंधों के साथ ही प्रस्तुत किया जाता है, ढांचा पहले से ही बना होता है कलाकार को इसमें अपनी भूमिका ढालनी होती है। ऐसा न करना और निजी कलात्मक दृष्टि की तलाश में इससे अलग हटना एक प्रकार से धर्मविरोधी माना जाता है। गरीबी और अंधविश्वास, दमन और अन्याय की उपेक्षा करके दैहिक संबंधों में विसंगतियों के मनोविज्ञान का अन्वेषण करना अनैतिक, लगभग अश्लील है। "बंगाल पुनर्जागरण" सुधारवाद के बिना चारुलता का सौंदर्य खोखला हो जायेगा। यह सुधारवाद इसी पृष्ठभूमि से कहीं अधिक इसकी अग्रभूमि को तैयार करता है जो औरत के अपनी निजी पहचान के रूप में उभरने की ओर संकेत करती है।

राय में आक्रोश की कमी, घटना के प्रति उनकी तटस्थता, प्रत्यक्ष और बाहरी अभिनय की अवहेलना आदि के चलते राय युवा पीढ़ी में अपनी लोकप्रियता निरंतर नहीं बनाये रख सके। इस पीढ़ी के कुछ लोग उनसे धीरे धीरे अलग होते रहे और उन्होंने वैकल्पित आदर्श ऋत्विक घटक जो अपनी फिल्मों में राय के समान ही टैगोरवादी समन्वयवादी थे—और मृणाल सेन, अपेक्षाकृत अधिक समर्पित राजनीतिक फिल्म निर्माता—में तलाशना शुरू कर दिया। राय का अपना कृतित्व *चारुलता* के शिखर के बाद एक अनिर्धारित विभाजक रेखा और पार कर गया था। उन लोगों के दबाव ने, जो चाहते थे कि वे चेखव को छोड़कर मार्क्स को अपना लें, उन पर संभवतः कुछ प्रभाव डाला होगा। इसके साथ साथ देश की बदली हुई परिस्थितियों, नेहरू युग के सुखी स्वप्नों के क्षीण होने, सुविधा संपन्न वर्गों द्वारा विकास के लाभ हड़प लिये जाने के निरंतर बढ़ते साक्ष्यों ने राय के कृतित्व की प्रकृति में एक सूक्ष्म परिवर्तन पैदा कर दिया। तात्कालिक जीवन के प्रतिपादन में उन पारंपरिक दृष्टिकोणों से एक सुस्पष्ट पलायन दिखाई देता था जो दृष्टिकोण उनके प्रारंभिक कृतित्व में मुखर रहे थे। वह कलकत्ता जो बड़ी बड़ी राजनीतिक सभाओं और लंबी लंबी जनकतारों का प्रतिनिधित्व करता था, और जो पहले दशक की उनकी फिल्मों में स्पष्टतः अनुपस्थित था उसने अपनी उपस्थिति महसूस करना शुरू कर दिया। इसने राय के शास्त्रीयतावाद को एक नयी ओजस्वी धार प्रदान की। प्रतिद्वंद्वी में नकारात्मक छवियां, मेडिकल डायग्राम के अचानक दृश्यांतरों और गुस्से से उबलते हुए बेरोजगार युवकों के शॉटों की भरमार है :

जनअरण्य में राय ने पहली बार कलकत्ता के वीभत्स पहलू को उभारा, उसकी गंदी गलियों को दिखाया जो काल गर्ल अड्डों के क्षणभंगुर चमकदार अगवाड़ों की ओर ले जाती हैं।

राय के दूसरे दशक में भी, जहां पतन की पहचान और अधिक मुखर होती है, निराशावाद उन दबावों की पहचान करता है जिनके अंतर्गत बुराई के साथ समझौते कर लिये जाते हैं। बुराई का चेहरा थोड़ा-सा तिरछा कर दिया जाता है और हम इसके साथ सीधा टकराव मोल नहीं लेते, *सीमाबद्ध* महत्वाकांक्षी अधिकारी अपनी आलोचक सिस्टर- इन-ला से सम्मान पाने की जरूरत लगातार महसूस करता है। जन अरण्य का जनसंपर्क अधिकारी जो अपने युवा व्यापारी ग्राहक के लिए काल गर्ल की जरूरत पूरी करने को लड़की की व्यवस्था करता है। अपने हंसमुख स्वभाव, और होती हुई बुराइयों के प्रति एक विशेष प्रकार की निर्लिप्तता भाव के कारण चकले की मालकिन की तरह ही अपराधबोध से मुक्त है। *शतरंज के खिलाड़ी* वाजिद अली और उनके लखनऊ के पतन और ब्रिटिश शक्ति से पहले इसके ढह जाने की ऐतिहासिक अपरिहार्यता की तस्वीर को स्पष्टतः देखती है, तथापि यह उत्कृष्टता, स्वाभिमान और उस नवाबी त्रासदी के संकेत की भी पहचान करती है जो इस पतन को आच्छादित किए हुए है।

घरे बाहरे, जिसके निर्माण के दौरान राय को दिल का पहला दौरा पड़ा था, के बाद से हम उनके अंदर खलनायक की ओर उंगली उठाने की निरंतर बढ़ती नयी प्रवृति को देखते हैं। उनके वक्तव्य भी शाब्दिक और सुस्पष्ट होते जाते हैं।

राय की सम्यक समझ के लिए यह आवश्यक है कि पश्चिम के साथ उनके संबंधों के बारे में उनके बाह्य वक्तव्यों और भारतीय आध्यात्मिक परंपरा के साथ उनके अंतः संबंधों के बीच विरोधाभास को देखा जाए। सौंदर्य शास्त्रीय अर्थों में राय ने सिनेमा की पश्चिमी संगीत शैलियों और पश्चिमी कथा परंपराओं से बहुत कुछ प्राप्त किया। पश्चिमी सिनेमा में सर्वाधिक योगदान हॉलीवुड का था। प्रत्यक्षतः राय का चौकस कथा वर्णन जिसमें प्रारंभ, मध्य और कथा विकास, संघर्ष और समाधान निहित रहते हैं। अरस्तुवादी विरेचर रूपविधान है जो शास्त्रीय संस्कृति साहित्य की अधिक मुक्त तर्कमूलक निष्कर्ष सिद्ध प्रवृत्तियों वाले रूपविधान से भिन्न है लेकिन इसके पीछे एक ऐसी नाभिनाल दिखाई देती है जो उन्हें प्रत्यक्षतः वेदांतिक विश्व दृष्टि से जोड़ती है। यही वेदांतिक दृष्टि उनकी फिल्मों को आध्यात्मिक तत्व प्रदान करती है। यद्यपि वे स्वयं को अनीश्वरवादी या अज्ञेयवादी बताते हैं, उनमें ब्रह्मांड और दिक्काल के परे इसकी विराटगति के रहस्य का भाव मौजूद था, इसी भाव में उनकी प्रारंभिक ब्रह्म आध्यात्मिकता की पृष्ठभूमि के साथ उनकी वैज्ञानिक पृष्ठभूमि घुलमिल जाती थी। इस ब्रह्म दर्शन के केंद्र में अनंत की उपनिषदवादी चेतना मौजूद थी, उदाहरण के लिए कठोपनिषद सृष्टि के पीछे की अदृश्य शक्ति है, ब्रह्म के रूप में बताता है जो मन और इन्द्रिय की पहुंच से बाहर है। पंडित कहता है कि वह इस शक्ति

की प्रकृति को नहीं पहचानता और इसलिए इसकी व्याख्या भी नहीं कर सकता। वह इतना ही कह सकता है कि यह शक्ति वह है जो हमें सुनने, देखने, सोचने और बोलने की क्षमता प्रदान करती है, कुछ व्याख्याएं स्पष्टतः दिक्काल की विराटता की उच्च चेतना की ओर इशारा करती हैं : 'ब्रह्म वह है जहां न सूर्य चमकता है, न तारे और न चन्द्रमा—ये सब ब्रह्म के प्रकाश से दीप्त हैं।' ब्रह्मांड की प्रकृति और मृत्यु के रहस्य के प्रति अन्वेषण और जिज्ञासा का भाव उपनिषदों में इस प्रकार के अनेक वक्तव्यों में अभिव्यक्त हुआ है। ये वक्तव्य आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टि के साथ संश्लेषित होते हैं। इसी तरह का भाव रवीन्द्रनाथ टैगोर के अनेक गीतों और कविताओं में इतनी निरंतरता से अभिव्यक्त हुआ और उनके समय में शांति निकेतन में इतनी प्रखरता से परिष्कृत हुआ कि उस वातावरण में विकसित (पोषित) राय इसकी उपेक्षा नहीं कर सकते थे। राय की फिल्मों में पश्चिमी बाह्य के पीछे यह भाव जिस तरह से व्याप्त है उसकी चर्चा इसी पुस्तक में बाद में की गयी है।

एक विदेशी समीक्षक जिसने बिना पृष्ठभूमि की जानकारी के इसे अपने अंतर्बोध से समझा जो पाउलिन कील थी। उन्होंने राय के काम को "अंतर्यामिता के भाव—एक व्यापक संदर्भ में छवियों का प्रलंबन से भरा हुआ पाया।" पाउलिन ने *अरण्येर दिन रात्रि* के संदर्भ में कहा कि, राय की छवियां भावनात्मक रूप से इतनी अधिक संतृप्त हैं कि वे काल में प्रलंबित और कुछ मामलों में सदैव के लिए स्थिर हो जाती हैं। "हम पूर्ण बोधगम्य और अबोध्य, व्यंग्य, रहस्यात्मक के मिश्रण के बीच घिर जाते हैं—गर्मी भरी यात्रा के बाद बरामदे में फैले हुए दो युवक, गांव की सड़क पर अंधेरे में नृत्य करता हुआ पियक्कड़ों का एक समूह, सिगरेट लाइटर की रोशनी में चमकता हुआ शर्मिला टैगोर का चेहरा—ये छवियां भावना से ओत-प्रोत हैं—और अत्यधिक, कभी कभी असहनीय रूप से, सुंदर हो जाती हैं। वे भावनाएं जो अंतर्भूत होती हैं हो सकता है उनका विकास कभी न हो, फिर भी हमारे साथ शाश्वत भाव बना रहता है। यद्यपि शायद सामंजस्य पूर्ण प्राकृतिक नाट्य जिसके पात्र उसका एक हिस्सा होते हैं। सदैव ही व्यापक और गहरे साहचर्य आसन्न रहते हैं। हम सामान्य में मिथक की उपस्थिति देखते हैं जब सामान्य तात्कालिक रूप से समाधान प्राप्त कर लेता है तो हमारे साथ जो मिथकीय है वही रह जाता है—मानो दर्शक वर्तमान को अतीत के एक भाग/के रूप में देख सकता है और उसे जो कुछ हो रहा है उस पर परावर्तित कर सकता हो।" पाउलिन यही बात उनकी सभी श्रेष्ठ फिल्मों के लिए कह सकती थी। यद्यपि शांतिनिकेतन में उन्होंने जो समय व्यतीत किया वह मात्र एक वर्ष का था, फिर भी इसने उन्हें ब्रह्म-वेदांतिक पृष्ठभूमि से प्राप्त की गई आध्यात्मिक विरासत को उनके भीतर रचाने बसाने का काम अनिवार्यतः किया होगा। जिस प्रकार की संवेदनशीलता की शिक्षा उन्होंने शांतिनिकेतन में प्राप्त की उसका अनुमान नंदलाल बोस, वह चित्रकार जिनके शिष्य के रूप में राय ने अध्ययन किया, के उस कथन से लगाया जा सकता है जो उन्होंने अपने

एक छात्र को एक वृक्ष के चित्रण के लिए निर्देश देते हुए कहा था।

पहले वृक्ष का थोड़ी देर के लिए अवलोकन करके, फिर सुबह, दोपहर, शाम और पुनः गहरी रात में इसके निकट बैठिये। यह आसान काम नहीं होगा, कुछ समय बाद ऊब जाएंगे, ऐसा लगेगा मानो वृक्ष कह रहा हो, "तुम यहां क्या कर रहे हो? मुझे अकेला छोड़ दो।" तब तुम्हें वृक्ष से निवेदन करना होगा, तुम्हें कहना होगा, "यह मेरे गुरु का आदेश है मैं इसकी अवज्ञा नहीं कर सकता कृपया मुझसे नाराज न हो, कृपालु हो अपने आपको मुझ पर उद्घाटित करो।" जब कुछ दिनों तक शांति से इसका अध्ययन कर चुको तब, यदि तुम्हें यह लगे कि तुम अब वृक्ष को देख चुके हो, स्वयं को अपने कक्ष में बंद करके तब इसका चित्र बनाओ।

"यह वृक्ष जिसका तुम मनन कर रहे हो या चित्रण कर रहे हो—यदि तुम इसे जीने की स्थिति में आ सको, तो यह तुम्हारे संपूर्ण जीवन के लिए एक निधि बन जाएगा। किसी दिन तुम्हारा दुख से सामना होगा, जिनसे तुम प्रेम करते हो वे नहीं होंगे, तुम्हें दुनिया हर वस्तु से खाली लगेगी, तब सड़क के किनारे खड़ा हुआ वह वृक्ष तुम्हें सांत्वना देगा : यह कहेगा, "देखो यहां मैं हूं।"

यहां राय के गुरु जिस करुणा को अभिव्यक्त करते हैं वह भारतीय दर्शन से ही प्रसूत है। यह करुणा जीवन की नश्वरता और फिर भी सभी वस्तुओं में जीवन के अंतर्भूत होने के भाव के प्रति निरंतर जागरूकता से आती है।

सत्यजीत राय के भीतर अपने बुर्जुआ पैदा होने पर मार्क्सवादी अपराधबोध कभी भी हावी नहीं रहा। उन्होंने इस व्यवस्था में कभी अपनी आस्था प्रकट नहीं की, *पाथेर पांचाली* में भारतीय जन नाट्य संघ की परंपरा के साथ सतही साम्य दिखाई देता है, केवल वहां तक जहां इस फिल्म में ग्रामीण बंगाल में व्याप्त निर्धनता की परिस्थितियों का चित्रण किया है लेकिन वह परिवार जिसके जीवन को उन्होंने कथ्य बनाया है पूर्व काल के संपन्न वर्ग से संबंधित था। गांव का ब्राह्मण पुरोहित-कवि, जो अब पश्चिमी शिक्षा के आग्रह और शहरीकरण, जिसके प्रति इस पुरोहित कवि का पुत्र आकर्षित हो जाता है, पर जोर के कारण दुर्दिनों का शिकार हो गया है। यद्यपि *पाथेर पांचाली* ने बंग्ला सिनेमा के लिए वही किया जो एक दशक पूर्व बंग्ला नाट्य के लिए नबान्ना ने किया था, यह तुलना बहुत आगे नहीं बढ़ाई जा सकती। राय प्रारंभ से ही व्यक्ति की विशिष्टता के पक्षधर थे और उन्हें समाजवादी सामूहिकता के दबावों से संघर्ष नहीं करना था। अपु से आगंतुक तक उन्होंने सामाजिक पुनर्जागरण की कुंजी के रूप में व्यक्ति के नैतिक विकास, अच्छे लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए अच्छे साधनों के महत्व को प्रतिपादित किया। इसकी सर्वाधिक सुस्पष्ट व्याख्या *घरे बाहरे* में की गयी। राय के नायक मार्क्स नहीं बल्कि टैगोर थे। मार्क्सवाद प्रधान वैचारिक वातावरण और राज्य सत्ता के दौरान वे दृढ़ता से मार्क्सवाद के एक मूलभूत सिद्धांत जो अंत को

न्यायोचित ठहरा देता है, उनकी दृष्टि में सर्वाधिक बुरा सिद्धांत था जिसके विरुद्ध वे सदा कार्य करते रहे। उन्होंने *जन अरण्य* और *शाखा प्रशाखा* जैसी फिल्मों में, किसी को भी इस संदेह में न रखते हुए कि उनकी संवेदनाएं किधर हैं, इस बात को बार बार जोर देकर दोहराया। इस तरह, जिस विरासत के वे हामी थे वह बंगाल पुनर्जागरण और ब्रह्म समाज आंदोलन की थी जो राममोहन राय से शुरू हुआ था और जिसका शिखर रवीन्द्रनाथ टैगोर में था। ब्रह्म समाज आंदोलन औपनिषदिक एकेश्वरवादात्मक बुद्धिवाद के आधार पर धर्म को आधुनिक विज्ञान और पश्चिमी लोकतंत्र के समक्ष खड़ा करने को उत्सुक था। इसी आंदोलन की विचारधारा को राय ने आत्मसात किया और अपने सिनेमा में अभिव्यक्त किया। आज व्यक्ति और उसके विकास तथा उसकी व्यक्तिगत नैतिकता के महत्व में उनकी आस्था को उत्तर मार्क्सवादी विश्व के प्रमुख मुद्दे के रूप में देखा जा सकता है।

कभी कभी राय के काम में जहां भारतीय केवल वृक्षों को देखते हैं वहां पश्चिमी लोग एक जंगल देखते हैं, इस अर्थ में राय के प्रति पश्चिमी प्रतिक्रिया सत्य के कहीं अधिक निकट होती है। राय के काम में, निजी अनुभव की अपेक्षा अधिकांशतः साहित्य से लिया हुआ, स्थानीय सत्य कभी कभी संदेह पैदा करता है जबकि सार्वभौम सत्य लगभग पूर्णतः संदेह से परे होता है। उनकी फिल्मों में व्यक्तियों के चित्रण में ऊष्मा और गरिमा रहती है जो पश्चिम को तत्काल लुभा लेती है लेकिन हम भारत में उसे सहज सामान्य मान लेते हैं और सामाजिक महत्व की अपनी खोज में उसे नजरअंदाज कर देते हैं। उदाहरण के लिए *अशनि संकेत* में अधिकतम भारतीय एक तीव्रतः अभ्यारूपण की अपेक्षा करते हैं, जबकि पाउलिन कील किसी तत्व में फिल्म की कमजोरी देखती है, "राय के काम में जो अस्पष्ट या अनुच्चरित है वही हमें याद रहता है, जो उच्चरित या सुस्पष्ट है वह कमतर सामान्य दिखाई देता है।" इसी तरह *अरण्येर दिन रात्रि* को भारत में बहुतों के द्वारा सुनिर्मित मगर महत्वहीन बताकर खारिज कर दिया गया था। लेकिन अधिकांश पश्चिमी समीक्षकों ने इसे मानव संबंधों की एक जटिल खोज की संज्ञा दी थी, शायद हम उनके काम में "सामान्य में मिथक की उपस्थिति" को पहचानने में असफल रहते हैं और यह स्वीकार नहीं कर पाते कि "जो संकल्प वे प्रदर्शित करते हैं वे मात्र कहानियों के संकल्प नहीं हैं बल्कि मानवीय अनुभव की सच्चाइयां हैं।" (पाउलिन कील)

तथ्य यह है कि राय की वस्तु भारतीय है लेकिन उनके वक्तव्य मानवता के बारे में हैं। जैसा कि बोस्टन में भारत के स्वतंत्रता दिवस समारोह में (1947) में आनंद कुमार स्वामी ने कहा था; "भारतीय संस्कृति हमारे लिए इसलिए महत्वपूर्ण नहीं है कि यह भारतीय है, बल्कि इसलिए महत्वपूर्ण है कि यह संस्कृति है।" राय मानव मात्र के एक होने को देखते हैं। राय मनुष्यों को परखते हैं, उन्हें लेकर संवेदित होते हैं लेकिन उन्हें भारतीयों के रूप में नहीं बल्कि ऐसे व्यक्तियों के रूप में, जो विशिष्ट समय और स्थान के जालों

में फंसे हुए हों, शायद इसी में शेष विश्व उनके साथ निकटता महसूस करता है और उनकी आस्था की स्वच्छता में ऐसी विशिष्टता पाता है जो इसे किसी बर्गमैन या किसी फैलिनी की व्यग्र खोज से अलग करता है। यह महत्वपूर्ण है कि राय के काम में हम उस तत्व को खोज लेते हैं जो राष्ट्रीय सीमाओं के परे पहुंचता है और हमसे मात्र इस बिना पर उनके काम के अंतिम निर्णायक होने का हक छीन लेता है कि हम उन्हीं के देशवासी हैं।

इसके बावजूद राय की फिल्में प्राथमिक तौर पर क्षेत्र विशेष के लिए ही बनाई गई हैं, *चारुलता* में बंगाली साहित्य में से सावधानी से चुने गये उद्धरणों की भरमार है। *जन अरण्य* में एक बहुत ही संकटपूर्ण क्षण में एक विशेष महत्व गीत को प्रस्तुत किया गया है। दोनों में ही शब्दों की वह समझ (अल्प) जो गूढ़ताओं का संप्रेषण लगभग असंभव बना देती है, फिल्म के प्रभाव में अत्यधिक वृद्धि कर देती है, बहुत से विदेशी समीक्षक (उदाहरण के लिए अपु त्रयी में रोबिन वुड) यह ठीक से नहीं समझ सके कि *अपुर संसार* में अपूर्व को अपर्णा से उस समय शादी क्यों कर लेनी चाहिए जब यह मालूम होता है कि उसका भावी पति विक्षिप्त है, और इसी तरह समृद्धि में पली बढ़ी अपर्णा को अपने पति अपूर्व के साथ गरीबी भरे जीवन को इतनी तत्परता से क्यों स्वीकार कर लेना चाहिए। दोनों ही मामलों में समझ की कमी सामाजिक धार्मिक परंपरा की जानकारी के अभाव से पैदा होती है। दशकों पूर्व एरिक रोडे ने *साइट एंड साउंड* में लिखते हुए आश्चर्य व्यक्त किया था कि क्या यह त्रयी राय को एक साम्यवादी बताती है—यह ऐसा सुझाव था जिसने कलकत्ता में बहुतों का मनोरंजन किया।

विशेष रूप से ऐसी परंपरा में जो सुंदर को सत्य और शिव के समक्ष रखती है। वहां समाजशास्त्रीयता का कलात्मकता के साथ संबंध महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस बात से भारतीय समीक्षकों के ऊपर एक ऐसा उत्तरदायित्व आ जाता है जिसके निर्वाह के लिए उन्होंने अभी तक लगभग कुछ नहीं किया। यह पुस्तक जो मूल रूप से *पाथेर पांचाली* के निर्माण के पच्चीस वर्ष पूरे होने पर राय के कार्य की समीक्षा तैयार करने के आग्रहों का उत्पाद है, आश्चर्यजनक रूप से एक भारतीय द्वारा लिखी गई पहली पुस्तक है। इस संशोधित संस्करण में उनके कार्य का विवरण समयानुकूल कर दिया गया है, और इसमें फिल्मों तथा उनकी पृष्ठभूमियों की विवेचना में नये पहलू जोड़ने का प्रयास किया गया है।

—चिदानन्द दास गुप्ता

1

बंगाल पुनर्जागरण और टैगोरवादी संश्लेषण

भारत में ब्रिटिश शासन के दौरान कलकत्ता अधिकांश समय भारतीय साम्राज्य की राजधानी रहा। 1773 के रेग्यूलेटिंग एक्ट और 1784 के पिट्स इंडिया एक्ट के कारण मद्रास और बंबई बंगाल के अधीन आ गए और ब्रिटिश भारत का शासन कलकत्ता गवर्नर जनरल के द्वारा किया जाने लगा, यद्यपि कलकत्ता की "फैक्टरी" 1690 में स्थापित हुई यानी मद्रास के 50 साल बाद और बंबई के 16 साल बाद। सत्ता की गद्दी से इस निकटता के कारण, अन्य लाभों के अतिरिक्त बंगालियों को एक लाभ यह मिला कि वे पश्चिम की ओर खुलने वाली खिड़की की ओर सबसे आगे के दस्ते में आ गये। वह सभ्यता जो भौतिक मामलों में आदान-प्रदान के अलावा विदेशी को अपनी आत्मा से अलग किए हुए चल रही थी, अचानक इस तथ्य के प्रति सचेत हुई कि विदेशी के दार्शनिक विचार उसकी अपनी अंतर्मुखी आध्यात्मिकता को चुनौती दे रहे हैं। समानता, धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद, राजनीतिक लोकतंत्र, महिला मुक्ति जैसे विचारों को जातियुक्त तथा कट्टर श्रेणीबद्ध समाज में अंग्रेजी भाषा के माध्यम से प्रवेश मिलने लगा। शासक की भाषा को भौतिक सफलता के लिए उसी तरह पढ़ा जाना था जिस तरह से मुगल शासन के दौरान अरबी और फारसी का अध्ययन आवश्यक हो गया था। यहां तक कि पुरातनपंथी रुढ़िवादियों ने भी अंग्रेजी को अपना लिया बिना यह संदेह किये हुए कि इसके दूरगामी प्रभाव हिंदू समाज पर क्या पड़ेंगे। एक मूलभूत प्रश्न का उत्तर तलाश किया जाना था, ब्रितानी लोगों की सफलता का रहस्य क्या है। यह उत्तर अंग्रेजी साहित्य, इतिहास और पश्चिमी विज्ञान के अध्ययन में तलाशा जाना था। उस संश्लेषण की तलाश जिसने ब्रिटेन को महान बनाया था, अपरिहार्य हो गयी थी ताकि भारतीय समाज उसके कुछ गुणों को अपना सके।

इस तलाश के नेता राजा राममोहन राय (1772-1833) थे जिन्हें प्रायः आधुनिक भारत का जनक कहा जाता है। संस्कृत, फारसी, यूनानी और लेटिन भाषाओं के विद्वान राजा राममोहन राय हिंदू समाज के सुधार के लिए उस समय के प्रखर प्रवक्ता के रूप में सामने आये थे। पश्चिम के साथ उनका संबंध इतना निकट का था और समानता के विचारों के प्रति उनकी आस्था इतनी दृढ़ थी कि उन्होंने 1830 की फ्रांसीसी क्रांति के सम्मान में

एक सार्वजनिक भोज का आयोजन किया। अपने लोगों के नागरिक अधिकारों की वकालत के लिए उन्होंने भारत में प्रथम समाचार पत्र की भी नींव डाली। महिला मुक्ति के लिए उनके आंदोलन—विधवाओं को जलाने, लड़कियों को जन्म के समय ही मार देने और औरत को गुलाम मानने जैसी अंधविश्वासपूर्ण प्रथाओं का उन्मूलन आदि का प्रभाव उतना दूरगामी नहीं था जितना कि भारतीयों के लिए पारंपरिक शिक्षा के स्थान पर पश्चिमी शिक्षा की उनकी सफल वकालत का था।

राजा राममोहन राय ने हिंदू पंडितों के अधीन एक संस्कृत स्कूल स्थापित करने के सरकार के प्रस्ताव के विरुद्ध तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड एबहर्स्ट से अपना प्रबल विरोध दर्ज कराया। फ्रांसीसी बेकन के लेखन और यूरोप पर उनके प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने उन पारंपरिक आध्यात्मिक चिंताओं की आलोचना की जो निरर्थक गूढ़ताओं, व्याकरणीय सूक्ष्मताओं तथा आध्यात्मिक-तात्विक विषयों से संबद्ध थी और जिनका कोई व्यावहारिक उपयोग नहीं था। पश्चिमी शिक्षा के लिए उनकी वकालत 1817 में हिंदू कालेज की स्थापना के रूप में क्रियान्वित हुई। इसके माध्यम से पश्चिमी साहित्य, इतिहास और विज्ञान का व्यवस्थित अध्ययन शुरू हुआ। एक अर्ध पुर्तगाली और उग्र परिवर्तनवादी हेनरी डीरोलिओ के नेतृत्व में जो अन्य यूरेशियाइयों के बीच स्वयं को गर्व से भारतीय बताता था, हिंदू कालेज व्यवहारवाद के उत्थान तथा भारतीय समाज के सुधार का शक्तिशाली केंद्र बन गया। एक भारतीय पुस्तक विक्रता ने टॉम पाइने की पुस्तक "ऐज ऑफ रिजन" की सौ प्रतियां लेकर उन्हें एक रुपये प्रति के हिसाब से बिक्री के लिए विज्ञापित किया लेकिन हिंदू कालेज के विद्यार्थियों में उस पुस्तक की मांग इतनी अधिक थी कि यह पांच रुपये प्रति के हिसाब से बिकी। शीघ्र ही इस पुस्तक के एक भाग का बंगला में अनुवाद हुआ, और एक बंगला पत्र में इसका प्रकाशन हुआ।

भारत में अंग्रेजी शिक्षा की संस्तुति करते समय मैकाले का उद्देश्य, उसके अपने शब्दों में, ऐसे व्यक्तियों का वर्ग तैयार करना था जो रक्त और रंग में तो भारतीय हों लेकिन अपनी अभिरुचियों, विचारों, नैतिकता और बौद्धिकता में ब्रितानी हों। उसकी सिफारिशों को स्वीकार कर लिया गया। और 10 अक्तूबर, 1844 के लॉर्ड हार्डिंग के शैक्षणिक प्रपत्र में उन्हें नीतिबद्ध कर लिया गया।

हिंदू कालेज के आदर्श स्नातकों में से एक माईकल मधुसूदन दत्त (1824-73) थे जिनका उथल-पुथल भरा जीवन सौ सालों से भी अधिक समय तक पश्चिम के माध्यम से भारत की खोज का प्रतिमान बना रहा। हिंदू कालेज के "उज्ज्वलतम नक्षत्र" माईकल पश्चिम को पूरी तरह अपनाने की ओर प्रवृत्त हुए। वे शराब पीते थे, गाय का गोश्त खाते थे, उन्होंने ईसाई धर्म ग्रहण किया। लगातार दो यूरोपीय महिलाओं से शादी की, वे इंग्लैंड गए और वहां अंग्रेजी भाषा के कवि के रूप में अपने नाम का उल्लेख कराने के प्रयास किये। उन्होंने

जो कुछ किया उसका अधिकांश उस दौर का प्रतिनिधिक था, फिर भी भावनात्मक उभार में वे जितनी दूर पहुंच गये थे उस हद तक कम ही लोग गये हैं। अपनी अनेक कविताओं में उन्होंने ब्रिटेन के दूरस्थ तटों तथा उसके वैभव आदि के प्रति गहरी ललक को अभिव्यक्ति दी। *सोनेट टू फ्यूचेरिटी* नामक कविता में उन्होंने लिखा :

प्रायः एक उदास कैद चिड़िया की भांति मैं आह भरता हूं
इस धरती को छोड़ने के लिए, यद्यपि यह मेरी अपनी धरती है
इसके हरे-भरे चरागाह, खिलते हुए फूल और निरभ्र आकाश
यद्यपि खूबसूरत हैं, मेरे लिए आकर्षण नहीं रखते
क्योंकि मैं उस वातावरण का स्वप्न देखता हूं जो अधिक
आकर्षक और मुग्ध है,
जहां सद्गुणों का निवास है और स्वर्ग से उत्पन्न स्वतंत्रता
निम्नतम व्यक्ति को भी सुखी बनाती है, जहां आंख
मनुष्य को क्षुद्र स्वार्थों के लिए घुटनों के बल झुके हुए देखकर
बीमार नहीं होती—वातावरण जहां विज्ञान विकसित होता है
और विद्वान अपना उचित पारितोषिक पाते हैं
जहां मनुष्य अपने समूचे गौरव के साथ रहता है
और प्रकृति का चेहरा उत्कृष्टतापूर्ण मिठास से भरा है
अब खूबसूरत वातावरण के लिए मेरी बेचैन आह निकलती है
मैं वहीं जीना चाहता हूं और वहीं मृत्यु का वरण करना चाहता हूं।

—किडेरपोर, 1842

जिस खूबसूरत आबो-हवा के लिए माईकल मधुसूदन दत्त ललक रहे थे उस आबोहवा में उनकी मौत ही हो गयी होती। जब पैसे के अभाव में वे भयानक कठिनाई में थे तब जिस व्यक्ति ने उन्हें उबारा वह संस्कृत पंडित ईश्वरचंद विद्यासागर थे। तुरंत बाद ही माईकल ने बंग्ला में गीत लिखे और घर वापस आकर उन्होंने मुक्त छंद में महान बंग्ला काव्य की रचना की जो सोनेट की तरह ही बंग्ला में पहली बार लिखी गई थी। उनके कुछ प्रारंभिक सोनेट (गीत) अपनी भाषा और अपने देश की पुनर्पहचान की खुशी को तीव्रता से अभिव्यक्त करते हैं। वे फिर कभी विचलित नहीं हुए।

माईकल के विपरीत दूसरे छोर पर पंडित ईश्वरचंद विद्याससागर थे। एक निर्भिमानी संस्कृत विद्वान, हमेशा धोती और चादर के पहनावे में रहने वाले विद्यासागर का मस्तिष्क स्वतंत्रता, वैयक्तिकता और विवेकशीलता के प्रति पश्चिम के लगाव से निरंतर आप्लावित होता था। उनका जीवन पर्यंत विधवा विवाह अभियान हिंदू परंपरावाद के वृषभ के

व्यवहारवादियों का लाल वस्त्र हो गया था। इस हद तक कि इस अभियान ने आम आदमी के मन में साहित्य तथा भारतीय और पश्चिमी संस्कृति के मध्य यथार्थपरक संश्लेषण के विकास में उनके महत्वपूर्ण योगदानों को धुंधला कर दिया। माईकल मधुसूदन दत्त के तथा हिंदू कालेज के ही छात्र रहे राजनारायण बोस ने बंगाल पुनर्जागरण के इस प्राथमिक दौर से गुजरकर निष्कर्ष निकाला :

> "हिंदू अपने अतीत को इस हद तक भूल गये थे कि उन्हें इस तथ्य का स्मरण भी नहीं रहा था कि बुद्धि की विवेकवादी सोच तथा सामाजिक और वैयक्तिक स्वतंत्रता संबंधी विचार स्वयं उनकी अपनी संस्कृति के इतिहास में कम नहीं थे।"

इसमें संदेह है कि पश्चिम समर्थक लहर की अतिवादिताओं से गुजरे बिना वे इस निष्कर्ष तक पहुंच सकते थे।

1795 में, एक रूसी *जैरासिम लेबेडैफ* ने "बंगाली थियेटर" की स्थापना की और भारत में पश्चिमी नाट्य को शुरू करने का साहसिक प्रयास किया। यद्यपि *लेबेडैफ* के जीवन में इसे सफलता नहीं मिली, इसने कलकत्ता में व्यावसायिक थियेटर के विकास का मार्ग प्रशस्त जरूर किया। यह थियेटर कुछ ही दर्शकों में विकसित हुआ और भारतीय शास्त्रीय या लोक नाट्य पर नहीं बल्कि पश्चिमी नाट्य पर आधारित था। 1854 में रामनारायण तारकरत्न ने पहला बंग्ला नाटक लिखा जो उच्चवर्णीय ब्राह्मणों के वैवाहिक व्यवहारों पर व्यंग्य था।

इस तरह भाषाई जरूरत से उत्पन्न लेकिन प्रभाव में कहीं बहुत आगे तक पहुंचने वाली पश्चिमी प्रेरणा के प्रत्युत्तर में 19वीं शताब्दी के बंगाल में नये मध्यवर्ग का उदय हुआ और जो, जिसे बंगाल पुनर्जागरण कहा जाता है, उसमें विकसित हुआ।

भारत में अन्य स्थानों पर भी ऐसी ही प्रक्रिया दिखाई दी। विद्यासागर की तरह बहराम मलाबारी, नरमद तथा अन्य ने विधवा विवाह के लिए संघर्ष किया। डी.के. करवे, दयानंद एकनाथ रानाडे आदि ने शिक्षा में औरतों को समान अवसर उपलब्ध कराने के लिए संघर्ष किया। आर्यसमाज ने, जो प्रायः हिंदू परंपरावाद के ढांचे में ही सीमित रहा और पश्चिमी विचारों को ग्रहण करने के लिए कम उत्सुक रहा, भी हिंदू आस्थाओं को नये सिरे से प्राणवान करने और उन्हें समयानुसार ढालने की जरूरत महसूस की। 1875 में गुजराती ब्राह्मण स्वामी दयानंद द्वारा स्थापित आर्यसमाज ने जाति, मूर्ति पूजा, बहुपत्नी प्रथा और विधवा बहिष्कार जैसी प्रथाओं को नकारा। इसके आक्रामक तत्ववाद ने जो अन्य धर्मों के प्रति बड़ी हद तक असहिष्णु था, प्रगति की प्रेरक शक्ति के रूप में काम किया, विशेषकर पंजाब में। महाराष्ट्र में ब्रह्म समाज और आर्यसमाज आंदोलनों का अंतर गोपालकृष्ण गोखले के उदारवाद और बाल गंगाधर तिलक के हिंदू उग्रवाद की ध्रुवीयता में प्रकट हुआ। अनेक बंगाली नेताओं की तरह गोखले ग्लैड स्टोन के समान उदार, दृष्टिकोण में बुद्धिवादी,

व्यवहार में उदारवादी तथा भारतीय परंपरा से जोड़े गए पश्चिमी विचारों से गहराई तक अनुप्राणित थे।)

(शक्तिशाली टैगोर घराना जबरदस्त अंतर्राष्ट्रीय चेतना से संपन्न था। शताब्दी के मोड़ पर टैगोर लोगों ने काउंट ओकाकुरा को कलकत्ता यात्रा का निमंत्रण दिया। गगनेन्द्रनाथ टैगोर ने ताईकान और हिशीदा से संपर्क बनाए रखे जो जापानी पेंटिंग में ओकाकुरा के बिजुइतसेन स्कूल के प्रख्यात प्रतिनिधि थे। गगनेन्द्रनाथ के कामों में यह संपर्क स्पष्ट अभिव्यक्त होता है। ज्योतीन्द्रनाथ ने मोलरे के नाटकों का फ्रेंच से बंग्ला में अनुवाद किया और पोर्ट्रेट पेंटिंग का अभ्यास किया जिसकी विलियम रोथंस्टइन ने प्रशंसा की। उन्होंने भारत की पहली जहाज निर्माता कंपनी की भी स्थापना की। जर्मनी में बोहोस समूह की स्थापना के दो वर्ष बाद टैगोर घराने ने 1921 में कलकत्ता में बोहोस प्रदर्शनी का आयोजन किया। रवीन्द्रनाथ (1861-1941) ने विश्व भर में यात्राएं कीं और वे आजीवन अनेक देशों के बहुत से लेखकों, कलाकारों और विद्वानों के निजी संपर्क में रहे। विदेशी शासन के प्रतिबंधों तथा 19वीं शताब्दी के अंतिम और 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक चरणों में संचार की धीमी गति के बावजूद टैगोर परिवार पूरी दुनिया को अपना घर समझता था। अंतर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक क्षेत्र में ऐसा बहुत कम था जिसके बारे में उन्हें जानकारी न रहती हो और वे जिसके संपर्क में न हों। इसके साथ ही इस जानकारी में अखिल भारतीय चेतना भी जुड़ी हुई थी। देश भर से चित्रकार, संगीतकार और लेखक आकर्षित होकर रवीन्द्रनाथ के पास पहुंचते थे। स्वयं अपने गीतों के लिए रवीन्द्रनाथ टैगोर ने कर्नाटक संगीत की शैली और धुनों में से पर्याप्त लिया। ज्योतीन्द्रनाथ ने मराठी में से भी उतना ही अनुवाद किया जितना कि फ्रेंच में से। टैगोर विश्वविद्यालय में जिस तरह से चीनी भवन था उसी तरह से हिंदू भवन भी था। रवीन्द्रनाथ ने जिस तरह से दुनिया का भ्रमण किया उसी तरह से भारत का भ्रमण भी किया।)

भारतीय और बंग्ला तत्व टैगोर घराने में गहराई तक मौजूद थे और बाहर से आने वाली हवाएं उन्हें कभी भी अपनी जमीन से नहीं उखाड़ सकीं। शायद माईकल मधुसूदन दत्त का उदाहरण एक गहरे प्रभाव के रूप में उनके सामने रहा था। वास्तव में रवीन्द्रनाथ के कुछ गीत वैष्णव भावना से इतने अधिक ओत-प्रोत हैं कि अंग्रेजी अनुवादों से ठीक से नहीं समझा जा सकता। उनका काव्य संस्कृत उपमा विधानों से इतना अधिक परिपूरित है कि संस्कृत काव्यों की जानकारी के बिना उसका पूर्ण आनंद नहीं लिया जा सकता। गगनेन्द्रनाथ 1907 में हुई इंडियन सोसायटी ऑफ ओरियेन्टल आर्ट की स्थापना के पीछे प्रेरक शक्ति थे और उन्हीं की वकालत पर लॉर्ड कार्मिशलेन्ट सरकार ने बंगाल होम इंडस्ट्री एसोसिएशन को मदद दी ताकि बंग्ला शिल्पों को लुप्त होने से बचाया जा सके। चाहे यह ओपेरा या पेंटिंग में हो या हस्तशिल्प में, थियेटर हो या कृषि या आंतरिक सज्जा, संगीत

हो या पुस्तक उत्पादन या पोशाक की शैली, बाल साहित्य या शिक्षा में सुधार या सामाजिक व्यवहार, टैगोर लोगों ने विशेष तौर पर रवीन्द्रनाथ ने उस एकीकृत संस्कृति के विविध आयामों में मानक तैयार किए जो पूर्व और पश्चिम के मिश्रण से उत्पन्न हुई थी।

19वीं शताब्दी के भारत में जो बदलाव आया उसके प्रसंग में मार्क्सवादी आलोचक पुनर्जागरण शब्द को हमेशा खारिज करते रहे हैं। क्योंकि यह परिवर्तन केवल मध्यवर्ग तक सीमित था और इसने समाज के वर्ग ढांचे को उस तरह परिवर्तित नहीं किया जिस तरह से यूरोपीय पुनर्जागरण ने सामंतवाद से पूंजीवाद में किया। तथापि सत्यजीत राय ने जलसाघर के जमींदार को परिवर्तन के ठीक इन्हीं संदर्भों में देखा। आज यह तर्क किया जा सकता है कि पुनर्जागरण शब्द का दो प्रयोजनों में फर्क करने में मार्क्सवादी परंपरावाद को ठीक से समझने में अधिक सफल नहीं हुए। जबकि पुनर्जागरण को केवल पश्चिमी संदर्भों में ही समझने की जरूरत नहीं थी। बंगाल पुनर्जागरण को कमतर आंकने का एक और कारण यह तथ्य भी बताया जाता है कि हिंदू धर्म के अंधविश्वास जैसी चीजें उस सामान्य व्यक्ति को प्रभावित नहीं करती हैं जो सती प्रथा का पालन नहीं करता या विधवा विवाह पर प्रतिबंध नहीं लगाता, आदि। इस तथ्य से अलग कि यह वक्तव्य अपने आप में विवादास्पद है, 1981 में सत्यजीत राय द्वारा बनाई गयी फिल्म सद्गति जो प्रेमचंद की कहानी पर आधारित है यह प्रदर्शित करती है कि हिंदू समाज में सबसे निचले तबके का एक जातिच्युत व्यक्ति भी हिंदू धर्म के सामाजिक नियमों से कितनी मजबूती से जकड़ा हुआ है। इस तरह हिंदू परंपराओं को चुनौती देने वाला सुधारवादी आंदोलन इस अर्थ में महत्वपूर्ण था कि उसने जातिप्रथा द्वारा निर्देशित दासता को दूर करने की प्रक्रिया शुरु की। भारतीय पुनर्जागरण ने एक दूरदर्शी मध्यवर्ग को आगे खड़ा किया जिसमें स्वयं मार्क्सवादी नेतृत्व शामिल था और जिसने आम आदमी की मुक्ति का अभियान शुरु किया। *कंचनजंघा* का निम्न ब्रिटिश उपाधिधारी उस उच्च मध्यवर्ग के एक हिस्से का आदर्श उदाहरण है जो परिवर्तन के विरुद्ध खड़ा था। यह व्यक्ति उस युवक के विरोध में था जिसने ब्रिटिश स्वामित्व को स्वीकृति देने वाले यथास्थितिवादियों से स्वयं को अलग कर लिया था।

तिलक और गोखले के मध्य विशिष्ट ध्रुवीयता में अंततः यह गोखले का बुद्धिवादी उदारवाद था जो विजयी हुआ। स्वतंत्र भारत में वयस्क मताधिकार, धार्मिक सहिष्णुता, महिलाओं की समानता, विज्ञान और उद्योग पर जोर आदि व्यवस्थाएं मुख्यतः पूर्व पश्चिम संश्लेषण का ही परिणाम हैं। महात्मा गांधी जैसा व्यक्ति जो लंदन में बेंत हिलाते हुए भद्र पुरुष के रूप में था और जिसकी मुख्य चिंता कभी बालरूम नृत्य न सीख पाने की अक्षमता थी वही अंततः अधनंगे राजनीतिक संत में बदल गया। नेहरू भूरे अंग्रेज वाली मैकाले की परिकल्पना के सर्वाधिक निकट आते थे लेकिन कुछ मायनों और केवल सतही तौर पर। उन्होंने टैगोर की सांस्कृतिक परिभाषाओं को एक ऐसे एकीकृत राजनीतिक दृष्टिकोण

की रूपरेखाओं में बदल दिया जिसमें सामान्य व्यक्ति के प्रति गांधी की चिंताएं गहन रूप से शामिल थीं।

लॉर्ड डेफेरिन का भारतीय मध्यवर्ग जिसमें आंशिक रूप से ब्रितानिया द्वारा पैदा किया गया नव धनाढ्य वर्ग और आंशिक रूप से पारंपरिक व्यवसायों से रूपांतरित हुआ वर्ग शामिल था, एक अति सूक्ष्म और छोटे वर्ग से स्वतंत्रता के समय तक एक बड़े और व्यापक अखिल भारतीय समुदाय के रूप में उभर आया था। इस वर्ग के दृष्टिकोण और व्यवहार में मूलभूत समानताएं थीं। इस वर्ग का सर्वाधिक प्रभावशाली हिस्सा वह रहा जिसने आजादी से पहले और बाद में भारत में उच्च स्तरीय नेतृत्व प्रदान किया है। नेतृत्व देने वाला यह प्रभावशाली तबका सर्वाधिक पश्चिमीकृत था। केवल पोशाक में ही नहीं बल्कि विचारों से, परंपरा और आधुनिकता के बीच संघर्ष में अपनी पक्षधरता से और एक दूसरे को समृद्ध बनाने में अपनी सफलता से। 150 वर्षों से भी अधिक समय तक भारतवर्ष की प्रगति पूर्व-पश्चिम के सचेत मिश्रण का परिणाम रही है। लेकिन यह संश्लेषण सार्वजनिक और सर्वकालिक नहीं था। प्रत्येक व्यक्ति को इस विलय में अपनी भूमिका खुद तलाशनी थी। दो विपरीत धाराओं के बीच खड़े मध्यवर्ग को विशेष रूप से कलाकार और बुद्धिजीवी को अपनी निज की पहचान के लिए कष्टकारी तलाश करनी पड़ी। स्वतंत्रता के तीन दशकों के बाद भी अपनी पहचान की समस्या मध्य वर्ग और नये उभरते वर्गों को आज भी घेरे हुए है। यह संकट जितना कलाओं में मुखर है उतना अन्य कहीं नहीं। और कलाओं में भी यह सर्वाधिक मुखर पश्चिम से आयातित कला यानी कि सिनेमा में दिखाई देता है।

2

पहचान की समस्याएं

अपने स्वच्छ मन से उठी एक पुकार में स्वामी विवेकानंद (1863-1902) ने संपन्न शिक्षित भारतीयों के नये उभरते वर्ग का आह्वान किया था कि वह खड़ा हो और घोषणा करे कि प्रत्येक अशिक्षित, निर्धन और अभागा भारतीय उसका भाई है। यह शक्तिशाली आदेश-उक्ति बुद्ध देव मुखर्जी (माइकेल मधुसूदन दत्त के समकालीन) की उक्ति (अंग्रेजी में बोलिए, अंग्रेजी में सोचिए, अंग्रेजी में स्वप्न देखिए) के कोई अधिक समय बाद नहीं कही गयी थी। जैसा कि पहले कहा गया है 19वीं शताब्दी का युवा बंगाल पश्चिम के अपने उन्मुक्त आलिंगन में अंग्रेजी भाषा से भी कहीं आगे निकल गया था। इसने परंपरा को नकार दिया और नयी पहचान बनाने का प्रयास किया। अनिवार्यतः उस पीढ़ी के अधिकांश प्रमुख लोगों ने अपनी गलती को महसूस किया और अपनी जड़ों की फिर से खोज की, अपने देश के रूपांतरण में विराट योगदान दिया। एक सफल संश्लेषणात्मक प्रक्रिया की सोच के तहत कदम उठाए। परंपरा और आधुनिकता दोनों के प्रति जिज्ञासा से एक नयी पहचान का उदय हुआ। यह उतना आसान नहीं था जितना कि पहले प्रतीत होता था। अपेक्षित रूपांतरण, और इसे प्राप्त करने के साधनों पर व्यक्तिगत निर्णय कष्टकारी था।

रवीन्द्रनाथ टैगोर के 'गोरा' में उसका आधारनामी नायक 'ब्रह्म' सुधारवादी आंदोलन से इसके सतहीपन के कारण संघर्ष करता है। गोरा को ब्रह्म समाज की दृष्टि उद्दंड, अहंमन्य, देश के साथ पहचानरहित और अंधविश्वास के विरुद्ध उपदेश देते हुए पश्चिमी लिबास में भूरे साहब के व्यवहार के अधिक निकट प्रतीक होती थी। गोरा के लिए ब्रह्म स्थानीय व्यक्तियों में न होकर एक बाहरी व्यक्ति है। उसके सुधारवादी दर्प की प्रतिक्रिया में गोरा रुढ़िवाद का पक्ष लेता है। पहले वह अंधविश्वासी व्यक्तियों के साथ एक होना चाहता है उसके बाद उन्हें सुधारना चाहता है। उसका ब्राह्मण दर्प उसकी अपनी शिक्षा के आधुनिक होने के बावजूद परंपरा के साथ एकाकार होने में आनंद महसूस करता है। संभवतः उसका यह वर्ग अपनी अतिवादिता में विकृत हो सकता है लेकिन यह राष्ट्रवादी है और इसकी पहचान निर्विवाद। गोरा के ऊपर उस समय वज्रपात होता है जब उसे पता लगता है कि वस्तुतः वह अंग्रेज माता पिता की संतान है जो म्लेच्छ माने जाते हैं, यानी ऐसे बाहरी व्यक्ति

जिनकी छाया भी ब्राह्मण को अपवित्र कर देती है।

टैगोर ब्रह्म समाजी थे, उनके पिता ब्रह्म समाज के संस्थापक रहे थे, और व्यावहारिक रूप से पूरे परिवार ने ब्रह्म समाज को अपना लिया था। यह नया मत मूर्ति पूजा और अंधविश्वास के विरुद्ध था और लोकतंत्र तथा महिला मुक्ति में विश्वास रखता था। स्वयं रवीन्द्रनाथ ने ब्रह्म समाजी आंदोलन और इसके धार्मिक अनुष्ठानों में सक्रिय हिस्सा लिया था। उनके लगभग दो हजार गीतों में से कम से कम पांच सौ या उससे अधिक निराकार ईश्वर की प्रशस्ति में रचे गये हैं। ये गीत उनके पिता देवेन्द्र नाथ टैगोर तथा उनके कई चाचाओं और भाइयों के गीतों की तरह ब्रह्म समाज में अभी भी भजनों की तरह गाये जाते हैं। प्रायः ये गीत किसी विक्टोरियायी संगीत वाद्य या इसके भारतीय संस्करण हारमोनियम पर रविवारीय प्रार्थना के समय मंचासीन भक्त समुदाय के समक्ष गाये जाते हैं। फिर भी ये रवीन्द्रनाथ ही थे जिन्होंने गोरा में नये भारतीय की पहचान की समस्या को संवेदनशीलता से समझा और गहराई से अभिव्यक्त किया। शायद यह उस समस्या पर पहला वजनदार वक्तव्य था जो आधुनिक भारत को अभी भी ग्रसे हुए है।

टैगोर के समकालीन विवेकानंद स्वयं उनकी तरह लंबे और गौरवर्णीय थे जो अपने उन्नत मस्तक और सुतवां नाक वाले व्यक्तित्व के साथ गोरा के चरित्र के प्रेरणा पुरुष हो सकते थे। विवेकानंद ब्रह्म समाज से कुछ समय तक आकर्षित रहे लेकिन इसके पास जो कुछ देने को था उससे संतुष्ट न होकर वे रहस्यवादी रामकृष्ण के शिष्य हो गये। बाद में उन्होंने निर्धनों की सेवा के लिए रामकृष्ण मिशन की स्थापना की। और पश्चिम में वेदांत दर्शन की महत्ता को प्रचारित किया। टैगोर ने स्वयं ब्रह्म समाज की तरह भारत में नये उभरते मध्यवर्ग को आकार दिया और स्वयं उससे आकार ग्रहण भी किया। शायद विवेकानंद ने इसी वृत में सीमित रहना स्वीकार नहीं किया। और उन्होंने व्यापक अर्थों में सामान्य जन के साथ पहचान बनाने के प्रयास किये। यह अलग बात है कि उनके पास सांस्कृतिक संश्लेषण की टैगोर जैसी सुस्पष्टता नहीं थी। यह हमेशा ही गतिशील लघुवर्ग होता है जो किसी देश की दिशा को बदलता है। फिर भी संभावना यह होती है कि यह परिवर्तन या क्रांति यदि इसकी जीवन शक्ति राष्ट्र के शरीर के प्रत्येक अंग और प्रत्येक तंत्रिका तक नहीं पहुंचती तो अधूरी ही रहे। शायद यह परिघटना टैगोरवादी संस्कृति के सा॰ हुई और इसकी सीमाएं नेहरू युग में और उसके थोड़े बाद के समय तक ही सीमित रहीं। महात्मा गांधी (1869-1948) के आगमन के साथ ही समूचे देश को भारतीय पुनर्जागरण के केंद्र में लाने वाली कहीं अधिक व्यापक और अधिक धर्मनिरपेक्ष गतिविधि सामने आई। महात्म ने यह कार्य अपने सादा रहन-सहन के द्वारा देश के निर्धनतम व्यक्ति के साथ अपनी पहचा बनाकर किया और पहचान के उन प्रत्यक्ष प्रतीकों के माध्यम से किया जो स्वयं उन्होंने ईजाद किये थे। महात्मा गांधी का आंदोलन विवेकानंद के आंदोलन की तुलना में धर्म और

बौद्धिकता के संदर्भ में कहीं अधिक स्वतंत्र था। और टैगोर के उस आंदोलन से कहीं अधिक व्यापक था जो मुख्यतः मध्यवर्गीय सोच तक सीमित था। गांधी का विचार राजनीति और सिद्धांतों को गढ़ने के लिए कसौटी बन गया। इसमें टैगोर के आदर्शों के साथ स्वतंत्र भारत की अगर सभी वास्तविकताएं नहीं तो सभी आदर्श अवश्य निहित थे। शायद आज के बुद्धिवादियों द्वारा आधुनिक भारतीय संस्कृति में टैगोरवादी तत्व कम देखे जाते हैं, जबकि गांधीवादी तत्व लगातार महत्वपूर्ण बने हुए हैं, उस समय भी जबकि वास्तविकताएं उसे झुठला रही हैं।

आधुनिक भारत के कलाकार के लिए जल्दी ही यह जरूरत पैदा हुई कि इस सांस्कृतिक मिश्रण को वह पहचान के अर्थों में ढाले। बंगाल स्कूल आफ पेंटिंग के उत्कर्ष के दौरान कलकत्ता में स्कूल आफ आर्ट्स के अंग्रेज प्रधानाध्यापक ई.बी.हावेल ने छात्रों से कहा कि वे पश्चिम की नकल करना बंद करें और भारत की अपनी परंपराओं को जारी रखें। यही आग्रह भगिनी निवेदिता की ओर से भी आया। इस आग्रह को रवीन्द्रनाथ टैगोर ने मुगल शैली में आवेग को प्रयोग करके गति दी। नंदलाल बोस की उत्कृष्ट कला ने अजंता से बहुत कुछ प्रेरणा प्राप्त की। स्वयं रवीन्द्रनाथ जो प्रशिक्षित चित्रकार नहीं थे उन्होंने चित्रकला में पारंपरिक शैलियों से बाहर जाकर काम किया। उन्होंने परंपरा से मुक्ति की धारा का नेतृत्व किया लेकिन अपनी भारतीय संवेदनशीलता को बनाये रखा।

भारतीय कला के महान दार्शनिक आनंद कुमारस्वामी (1877-1947) जो श्रीलंकाई भारतीय पिता और अंग्रेज माता की संतान थे तथा जिनका पालन-पोषण इंग्लैंड में हुआ था, बंगाल स्कूल के पुनर्जागरण को शंका की नजर से देखते थे। उनके लिए पुनर्जागरण मूल रूप से रचनात्मक आत्म निरीक्षण की प्रक्रिया थी जो संवेदनशीलता को नयी अभिव्यक्ति के लिए तैयार करती है। वे उन गिने-चुने लोगों में से थे जो राष्ट्रीय पुनर्स्फुरण और कला में इसकी अभिव्यक्ति के बीच एक मजबूत कड़ी को देखते थे और इन दोनों को अविभाज्य मानते थे। इसमें संदेह नहीं था कि अपने अतीत का पुनःअन्वेषण और कला में अभिव्यक्ति की नयी शैली विकसित करने की तलाश में भारत 20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में एक राष्ट्र के रूप में अपनी पहचान और आत्मविश्वास प्राप्त कर रहा था। पुनर्जागरण में कला ने एक अनिवार्य तत्व की भूमिका निभाई।

पुनर्जागरण शब्द तथापि उस काल की बंगाली चित्रकला के साथ जुड़ गया था और सभी कलाओं तक प्रसार भी पा गया था, स्वयं बंगाल पुनर्जागरण तक। वस्तुतः कुमारस्वामी का विश्लेषण शीघ्र ही सही साबित हुआ क्योंकि स्वयं रवीन्द्रनाथ टैगोर के कामों में पारंपरिक दृष्टियों और मुहावरों के साथ गगनेन्द्रनाथ, विनोद बिहारी मुखोपाध्याय (जिन्हें सत्यजीत राय ने अपने वृत्तचित्र "द इनर आई" में श्रद्धांजलि अर्पित की) और रामकिंकर बैज, इन चारों का प्रभाव परवर्ती पीढ़ियों पर अवनीन्द्रनाथ, नंदलाल बोस तथा अन्य की तुलना से

कहीं अधिक पड़ा। इस तरह पुनर्जागरण नाम का सुधार आंदोलन के संबंध में किया गया विस्तार विरोधाभास प्रतीत होता है, यह देखते हुए कि इसने एक पूरी तरह मृतप्राय परंपरा को चुनौती दी और इसमें क्रांतिकारी बदलाव लाने के प्रयास किये।

आधुनिक भारतीय चित्रकला की शुरुआत वस्तुतः अमृता शेरगिल (1913-41) से हुई थी। हंगेरियाई मां और भारतीय पिता की संतान अमृता का चित्रकला में प्रशिक्षण बुडापेस्ट में हुआ था। उन्होंने अपनी पहचान भारत के अन्वेषण में तलाशी, जिससे अपना एक अलग तकनीकी सहसंबंध पैदा हुआ जो कलाकार की तलाश की गहराई और गंभीरता से परिपूरित था।

आलोचक तुरंत यह बात कह देते हैं कि शेरगिल अर्धयूरोपीय थी और वास्तविकता के साथ उसके साक्षात्कार में एक 'अंतर्बाह्य' गुण निहित था। यही गुण उसकी शक्ति भी था और उसकी कमजोरी भी। लेकिन पहचान की तलाश, यदि कम आत्म-सजगता हो तो पूर्णतः भारतीय कलाकार भी कम वास्तविक नहीं है। जब उन्होंने कहा :

> "आधुनिक कला ने मुझे भारतीय चित्र और शिल्पकलाओं से साक्षात्कार कराया है और उनकी पहचान कराई है—यदि हम यूरोप नहीं आये होते तो मैं कभी भी यह अनुभव नहीं कर पाती कि अजंता का एक भित्तिचित्र या म्यूज गूमैत में शिल्प का एक छोटा-सा टुकड़ा एक संपूर्ण पुनर्जागरण से भी कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।"

इन शब्दों में अमृता उन अनेक रचनात्मक कलाकारों के लिए बोल रही थीं जिन्होंने यूरोपीय संस्कृति में अपने लंबे आध्यात्मिक प्रवास के बाद भारत का अन्वेषण किया था। केवल वहां जहां इस संपर्क ने कोई सांस्कृतिक गहराई प्राप्त नहीं की, जैसा कि रवि वर्मा के मामले में था, भारत के लिए वापसी महत्वपूर्ण साबित नहीं हुई। जेमिनी राय जो पश्चिमी शास्त्रीय चित्रण में प्रशिक्षित थे वे लोक चित्रकला की ओर मुड़े और इसमें उन्होंने अपना स्वयं का एक प्रशांत मुहावरा ईजाद किया। और अपनी चित्र कृतियों की स्वयं ही प्रतियां बनाकर और उन्हें भारत जैसे गरीब देश के लिए उचित कम कीमतों पर बेचकर उन्होंने कला में पश्चिम प्रधान आत्म केंद्रित और धन प्रधान मूल्यांकनों को नकारा। अमृता शेरगिल और जेमिनी राय के चित्र शैलीगत भिन्नता के बावजूद अपने अपने ढंग से सामान्य भारतीय के साथ पहचान की दृष्टि को अभिव्यक्त करते हैं। शेरगिल के वे उदास चेहरे जिन पर मौन सहनशक्ति चस्पां रहती है, सत्यजीत राय की प्रारंभिक कृतियों के चरित्रों के साथ समानता के साथ निकटतारहित नहीं हैं। 18वीं और 19वीं शताब्दी की काली घाट पेंटिंग शायद उन तथाकथित कंपनी पेंटिंग की तुलना में कहीं अधिक भारत ब्रिटिश संपर्क के रोचक उत्पाद का प्रतिनिधित्व करती है। ये पेंटिंग जैसा कि "कालीघाट पेंटिंग" में डब्ल्यू. सी.आर्चर ने कहा है कि ''ये ब्रिटेन से संबंधों की उप-उत्पाद (बाइ प्रोडेक्ट) हैं और इन्हें

इसी पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है। आर्चर की नजर में सीमा रेखाओं और चटकीली लयों वाली ये पेंटिंग अजंता और बाघ गुफा भित्तिचित्रों के नजदीक हैं। फिर भी वे आधुनिक कला के साथ स्पष्ट निकटता दर्शाती हैं, विशेष रूप से फर्नेन्डलेगर के कामों के साथ जो स्पष्ट सरलीकरण, हृष्ट-पुष्ट तथा नलिकाकार आकृतियों के लिए जानी जाती हैं। गुमनामी के लोक स्तर पर भारत और ब्रिटिश तंतुओं के विलयन का उससे बेहतर उदाहरण कोई नहीं है जो "कालीघाट बाजार" पेंटिंग की सुस्पष्ट रेखाओं और मुखर सामाजिक संदर्भ में दिखाई देता है।

यह प्रवृत्ति चित्रकला तक ही सीमित नहीं रही। नर्तक उदय शंकर का प्रशिक्षण यूरोप में हुआ और कुछ समय तक वे पेरिस में पावलोवा के साझेदार रहे। जब यह साझेदारी टूटी तो वे सकते की हालत में थे। वे तब तक इस हालत में रहे जब तक कि उनके मन में आधुनिक भारत से प्रोत्साहन के अभाव में मंदिरों के अंधेरे में क्षीण होते भारतीय नृत्य को पुनर्जीवित करने का विचार नहीं आया। उन्होंने नृत्य प्रस्तुतियों को संक्षिप्त किया, उन्हें आधुनिक नाटकीय तकनीकों के अनुकूल बनाया और भारत तथा भारत से बाहर एक उद्वेलन पैदा कर दिया, और इस तरह भारतीय नृत्य को अवनति के खड्ड से निकालकर पारंपरिक नृत्य को पुनर्जीवित किया। भारतीय शास्त्रीय संगीत जो लंबे समय तक राजदरबारों तक सीमित रहा था, धीरे धीरे सरकारी और सार्वजनिक प्रायोजनों की परिधि में आ गया। इसमें रेडियो और ग्रामोफोन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। यहूदी मेनुहिन द्वारा भारतीय संगीत की प्रशंसा किये जाने और रविशंकर तथा अली अकबर के संगीत को यूरोप तथा अमरीका में परिचित कराये जाने से भी पश्चिमी झुकाव वाले भारतीयों की नजर में भारतीय संगीत का सम्मान बढ़ा।)

आज का भारतीय थियेटर अपने रूप स्वरूप में प्रधानतः पश्चिमी थियेटर है और इसने लोक नाट्य से अपेक्षाकृत बहुत कम लिया है। संभवतः शिशिर कुमार भादुड़ी बंगाली थियेटर के इतिहास में सर्वाधिक मेधावी अभिनेता निर्देशक थे। वे अंग्रेजी काव्य और नाटक के ख्यातिलब्ध शिक्षक रहे थे। पश्चिमी नाटकों की समृद्ध जानकारी से बंगाली थियेटर को उन्होंने समृद्ध किया। पश्चिमी रूपों और विचारों को आत्मसात करने में बंगाली थियेटर हमेशा ही तत्पर रहा। फिर भी परिणामस्वरूप इसने ऐसे नाटकों की संपदा पैदा की जो ब्रिटिश के आलोचक थे और भारतीय समाज के रीति-रिवाजों के भी। नाट्य क्षेत्र के एक बड़े हिस्से में अभी भी आम जनता के साथ पहचान की उन भावनाओं को बनाये रखा गया है जिनकी शुरुआत पांचवें दशक में भारतीय जन नाट्य संघ द्वारा की गई थी। इसके समांतर भारतीय समाज के अंग्रेजी पढ़े-लिखे तबके में पश्चिम से अपनाने के साथ साथ लोक नाट्य और लोक मंच को जीवित रखने के सचेष्ट प्रयास किये जा रहे हैं।

(स्वभावतः सामाजिक जीवन में यह समस्या उतनी ही जटिल है जितनी कि कलाओं

में। अंग्रेजी मध्यवर्ग के भीतर संवाद की कड़ी है लेकिन मध्यवर्ग के बाहर संवाद स्थापित करने में वह बाधा बन जाती है। उच्च मध्यवर्गों के हित उन्हें सामान्य आदमी से दूर करते हैं और एक कलाकार की क्षुब्ध चेतना के माध्यम से सांस्कृतिक हित उन्हें सामान्य व्यक्ति की ओर खींचते हैं, और बौद्धिक संस्कृति दोनों का ही प्रतिनिधित्व करती है—एक आकर्षण का और जहां कहीं यह स्वापक नहीं है वहां खतरे का। सामाजिक रीति-रिवाजों की गलत व्याख्या की जाती है कुछ परंपराएं सहज ही पहचान योग्य होती हैं और सामान्यतः स्वीकार कर ली जाती हैं।)

एक बार 1948 में कलकत्ता फिल्म सोसायटी एक औसत फ्रांसीसी फिल्म "ला केज आक्स रोसनिल" (ज्यां डेलानाय) का प्रदर्शन कर रही थी और उसने पश्चिम बंगाल के राज्यपाल को आमंत्रित किया हुआ था। जैसे ही डाक्टर काटजू ने हमारे द्वारा लाये गए लाल कालीन पर पैर रखा, मैं उनसे मिलने के लिए आगे आ गया। मुझे याद नहीं कि किसने अपना हाथ पहले आगे बढ़ाया, लेकिन जो हुआ वह यह था कि हर बार जब वे हाथ नमस्कार में जोड़ते थे मैं अपने हाथ को हाथ मिलाने की मुद्रा में आगे बढ़ा पाता था और जितनी बार उन्होंने मुझसे मिलाने के लिए अपना हाथ आगे बढ़ाया उतनी बार मैंने उन्हें नमस्कार किया। अपनी मुद्राओं को सम पर लाने के लिए हमने कई असफल प्रयास किए और फिर हम दोनों ही हंस पड़े तथा हमने अपनी अपनी यह कोशिश छोड़ दी।(सामाजिक व्यवहारों में यह विभ्रम बहुत सामान्य सी बात है। उत्तर भारत में दूल्हे गहरे लाउंज सूट और पगड़ी में घोड़े पर चढ़ते हैं, इससे पुरानी पीढ़ी में ऐसे लोग थे जो शरीर के उर्ध्व भाग को पश्चिमी पोशाक में रखते थे और अधोभाग को भारतीय पोशाक में। इस बात का अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि भारतीय और पश्चिमी पोशाक व्यवहार या प्रवृत्ति के किस संयोग को कोई व्यक्ति कब अपना लेगा। टैगोर के शांति निकेतन और गांधी के साबरमती आश्रम में इस प्रकार का विभ्रम नहीं था, उन्होंने स्पष्ट मानक बना रखे थे।

देश के अपेक्षाकृत शुरुआती पुनर्जागरण और आधुनिकता के मिश्रण में रूपों के प्रति ललक ने पिछले दौरों की सामाजिक परिस्थितियों को आकार दिया, जिनमें शायद पहचान प्राप्त करने के बजाय पहचान की तलाश ज्यादा है। शहरी मध्यवर्ग ने औद्योगिक श्रमिक वर्ग और ग्रामीणजन दोनों से स्वयं को इतना अधिक अलग कर लिया है कि सामान्य आदमी को विषयबद्ध करके रचे गये काव्य और नाट्य आज केवल शहर में जन्मे व्यक्तियों की समझ में आ पाते हैं। और दूसरी ओर अधिकांश लोक कला संग्रहालयों के कांच घरों में ही पोषण पाती हैं। देश के विभिन्न भागों में अपने उद्गम काल की तुलना में व्यापक स्तर पर शास्त्रीय संगीत का पुनर्आगमन अतीत की सांस्कृतिक सर्जना के साथ ऐतिहासिक संबंध में जड़ों की तलाश का संकेत देता है। उसी अतीत को पुनर्जीवित करने की प्रासंगिकता

पर आज के संदर्भ में प्रश्न चिह्न लगाया जा सकता है। यह ऐसा ही है मानो जापानी गागाकु को टोकियो के व्यापारिक विश्व में अचानक बहुत अधिक अनुयायी मिल जायें या अनेक कलाकारों द्वारा ग्रगोरियाई गीत आज यूरोपीय शहरों में हजारों लाखों लोगों के सामने गाये जायें। अतीत के साथ निरंतरता और पहचान की यह एक प्रकार की उर्ध्वाधर तलाश है, न कि करोड़ों की बसावट वाले आज के इस देश के विविध क्षेत्रों तक पहुंचने वाली क्षैतिज पहचान।

इस तरह स्वतंत्र भारत में पहचान की तलाश बहुआयामी है लेकिन सांस्कृतिक राष्ट्रवाद की प्रारंभिक लहरों की तुलना में इसको गलत परिभाषित किया जा रहा है। पूर्व और पश्चिम के बीच में फंसकर और दोनों में से किसी को भी पूरे तौर पर अपनाने में अक्षम और भावनात्मक सुरक्षा की जड़ों को तलाशता हुआ अंग्रेजी शिक्षित बुद्धिजीवी प्रायः बौद्धिक शरणार्थी बन जाता है। संस्कृति की जो परिभाषाएं टैगोर, गांधी और नेहरू ने दीं और उन्हें आनंद कुमारस्वामी जैसे प्रवक्ताओं ने सुनिश्चित आकार दिया वे अपनी रूपरेखाओं में स्पष्ट थीं और उन्होंने स्वतंत्रता पूर्व की राष्ट्रवादी पीढ़ी को तुलनात्मक रूप से अधिक ठोस और पूर्ण ढांचा प्रदान किया। आज वैसा नहीं है।

इस संदर्भ में भारतीय सिनेमा राष्ट्रीय पुनरुत्थान के क्षेत्र में उस तरह से उभरने में कभी सफल नहीं हुआ जिस तरह चित्रकला, नृत्य, नाटक और संगीत उभरे। यद्यपि विषयवस्तु के मामले में के. सुब्रह्मण्यम की बाल योगिनी और हिमांशु राय की *अछूत कन्या* जैसी फिल्में अंधविश्वासों के खिलाफ थीं, फिर भी उनके समय में सिनेमा की भाषा इतनी प्रखर नहीं हुई थी कि प्रभावशाली बनती। यह तथ्य सिनेमा को लगातार पीछे रखता था कि यह एक पश्चिम से आयातित किया हुआ आधुनिक औद्योगिक तकनीकी माध्यम है जो एक कृषि प्रधान और पूर्व-औद्योगिक समाज पर लादा जा रहा है। इसके पारंपरिक माध्यम न होने के कारण एक नयी भाषा के रूप में इसकी समझ के लिए कोई तैयार आधार भी नहीं था। भारतीय संस्कृति में सिनेमा का आत्मसात होना औद्योगिक तकनीकी संस्कृति की अनुपस्थिति के कारण और भी अधिक कठिन हो गया। एक कृषि प्रधान देश के रूप में आरोपित यह देश एक वैध कला रूप का विकास करने, परंपरा या वास्तविकता के साथ एक सांस्कृतिक संपर्क बिंदु विकसित करने में असफल रहा। यह पश्चिम की, विशेष रूप से हॉलीवुड की नकल पर ही चलता रहा, बिना कला और लोकप्रियता का संयोजन बनाए जिसका कि प्रतिनिधित्व प्रायः हॉलीवुड करता था। फालके और बाद में हिमांशु राय को छोड़कर विश्व सिनेमा के साथ संबंध लगभग न के बराबर था। ब्रिटिश भारत में सिनेमा आंशिक रूप से जबरिया अलगाव के बीच रहा, अपनी ही सीमित हद और स्तर के बीच कैद। फिल्म संस्कृति का अभाव इतना ही स्पष्ट था जितना कि व्यावसायिक फार्मूलाबद्ध सिनेमा का भौगोलिक फैलाव। यूरोप और अमरीका में फिल्म बतौर कला, फिल्म सोसायटी

और कला थियेटर आंदोलन तीसरे दशक की शुरुआत में ही प्रारंभ हो चुके थे जबकि भारत में आजादी के समय तक व्यावहारिक रूप से उनकी चर्चा तक नहीं हुई थी।

1929 में, शिशिर कुमार भादुड़ी (बंगाली व्यावसायिक मंच के सुप्रसिद्ध अभिनेता) के भाई मुरारी को एक पत्र के जवाब में रवीन्द्रनाथ टैगोर ने सिनेमा पर कुछ बहुत ही महत्वपूर्ण टिप्पणियां कीं। उनका अनुवाद इस प्रकार होगा :

"कला में रूप प्रयुक्त माध्यमों के अनुसार बदल जाते हैं। मैं जानता हूं कि चलचित्र के बीच से जिस नयी कला के विकसित होने की अपेक्षा हो सकती थी वह अभी उदित नहीं हुई है। राजनीति में हम स्वतंत्रता के लिए सक्रिय हैं, कला में भी हमें वही करना चाहिए। प्रत्येक कला उस दुनिया के भीतर जिसे वह रचती है, अभिव्यक्ति की अपनी स्वतंत्र शैली प्राप्त करने की कोशिश करती है। अन्यथा स्वयं में आत्मविश्वास की कमी के कारण इसकी आत्माभिव्यक्ति अपस्तरीय रह जाती है। सिनेमा अब तक साहित्य के गुलाम के रूप में काम कर रहा है क्योंकि अभी तक कोई ऐसा रचनाशील प्रतिभासंपन्न व्यक्ति सामने नहीं आया है जो इसे इसकी गुलामी से मुक्त करे। मुक्ति का यह काम आसान नहीं होगा क्योंकि काव्य, चित्रकला या संगीत में साधन महंगे नहीं होते जबकि सिनेमा में व्यक्ति को केवल रचनात्मकता की ही नहीं बल्कि वित्तीय पूंजी की भी जरूरत होती है।

सिनेमा में महत्वपूर्ण चीज आकृतियों का प्रवाह होता है। इसकी दृश्य गति इतनी समृद्ध होनी चाहिए कि वह शब्दों के प्रयोग के बिना ही अपना पूर्ण अर्थ देने में सक्षम हो। जब एक भाषा का अर्थ लगातार दूसरी भाषा के द्वारा प्रकट किया जाता है तो इससे केवल यह प्रदर्शित होता है कि पहली भाषा का प्रयोग कितना अशक्त है। संगीत अपने स्वरों के स्वायत्त प्रभाव से अपने आप को पूर्णता प्रदान करता है, बिना शब्दों की मदद लिये। ऐसा सिनेमा में क्यों नहीं हो सकता, आकृतियों के प्रवाह के साथ? यदि ऐसा नहीं होता तो इसका कारण रचनात्मकता का अभाव है—और उन सुस्त दर्शकों की असंवेदनशीलता जो सस्ता रोमांच तलाश करते हैं क्योंकि उन्होंने आनंद का अधिकार अर्जित नहीं किया है।"[1]

पहचान की कला जिसने भारत में साहित्य और अन्य कलाओं को नया जीवन दिया, सिनेमा में शुरू नहीं हुई थी और न इस माध्यम की समझ विकसित हुई थी। स्वयं फिल्म

---

1. यह बात भी कम रुचिकर नहीं है कि 1930 में जब वे जर्मनी में थे, तब टैगोर ने जर्मनी के यू एफ ओ स्टूडियो द्वारा प्रायोजित एक फिल्म की पटकथा 'द चाईल्ड' लिखी थी, जो म्यूनिख के पास एक गांव में उनके द्वारा देखे गए नाटक पर आधारित थी। 1931 में, एलन एंड अनविन ने पटकथा का प्रकाशन लंदन में किया था। लेकिन इसकी कोई प्रति भारत में उपलब्ध नहीं है। कवि के संग्रह में भी यह संकलित नहीं है तथा इसके फिल्मांकन की जानकारी भी नहीं मिलती। इस पटकथा की बाबत टैगोर के पत्र और सूचनाओं को रजत राय की बंग्ला पुस्तक 'चलचित्रेर संधनय' (साहित्यश्री, कलकत्ता 1977) से उद्धृत किया गया है।

निर्माताओं के मन में उनके अपने काम के प्रति सम्मान का भाव नहीं था और उन्होंने फिल्मों को भावी पीढ़ियों की खातिर सुरक्षित रखने के लिए भी बहुत कम काम किया था। सांस्कृतिक रूप से भी फिल्म निर्माता समुदाय अर्धविकसित था और उनके काम में उस रचनात्मकता की विशेष कमी थी जो सांस्कृतिक बाधाओं को पार कर सकती और अन्य कलाओं में दिखाई देने वाले उच्च स्तरीय पूर्व-पश्चिम संश्लेषण का प्रतिनिधित्व कर सकती।

ज्यां रनोए कहा करते थे, अपनी फिल्म "द रिवर" की योजना बनाने के लिए और फिर 1948-49 में कलकत्ता में उसके फिल्मांकन के लिए, अपने कलकत्ता प्रवास के दौरान उन्होंने सत्यजीत राय की पश्चिमी कला और सभ्यता की समझ को आश्चर्यजनक पाया। वस्तुतः राय की सांस्कृतिक विरासत का निर्माण भारतीय और पश्चिमी परंपराओं के समृद्ध सम्मिश्रण से हुआ था, जिसे टैगोर घराने के साथ निकटता और अपने दादा तथा पिता की रचनात्मक प्रतिभा से धार मिली। इसमें उन्होंने एक महत्वपूर्ण तार पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के प्रति जीवनपर्यंत लगाव से जोड़ा। शायद यही तत्व संरचना, रूप और लय की उनकी समझ का मुख्य निर्धारक था। ब्रिटिश और स्वातंत्र्योत्तर काल में भारत में सामाजिक और कलात्मक विकास के थियेटर की परंपरा में यह पश्चिमी और आधुनिक मूल्यों की उनकी समझ थी जिसने सिनेमा के माध्यम में उनकी गहरी पैठ पैदा की और समान रूप से समृद्ध भारतीय परंपरा की समझ के साथ पश्चिम की समझ के सम्मिश्रण ने उनमें अपने लोगों के पुनः अन्वेषण की ललक स्वयं उनके लिए और अपने चुने गये माध्यम के लिए, जगाई। जब भी उनसे यह पूछा गया कि उन्होंने फिल्म निर्माण कैसे सीखा, तो उनका उत्तर होता था : पश्चिम की फिल्मों को देख देखकर।

जब लिंड्से एंडरसन ने राय के बारे में उनके रेत में घुटनों के बल झुक जाने की बात कही तो उन्होंने एक क्षेत्रीय यथार्थ से *पाथेर पांचाली* की मुठभेड़ में अभिव्यक्त एक सार्वभौमिक सत्य के साथ साक्षात्कार किया था। उस समय बंगाली गांव के बारे में राय का प्रत्यक्ष अनुभव बहुत कम था। वह गांव को प्रतीकात्मक व्याख्याओं और साहित्य में आये आदिरूप संबंधों के माध्यम से समझते थे। यह ग्राम्य समाज की उनकी जानकारी नहीं बल्कि उसे जानने की उनकी ललक थी जिसने पर्दे पर इसे जीवंत बना दिया। विभूति भूषण बंद्योपाध्याय ने जो उस समय तक एक अज्ञात लेखक थे, अपने असाधारण प्रथम उपन्यास के लिए अपने स्वयं के अनुभवों का सहारा लिया। राय ने अपनी प्रथम फिल्म का निर्माण एक ऐसे अज्ञात फिल्म निर्देशक के रूप में किया जो लेखक की तुलना में ग्राम्य जीवन या निर्धनता के बारे में बहुत कम जानता था। जो उन्होंने किया वह उनकी अपनी शिक्षित शहरी मध्यवर्ग की कमोबेश पश्चिमीकृत पीढ़ी के लिए शेष आधी जिंदगियों के पुनः अन्वेषण की दृष्टि से महत्वपूर्ण साबित हुआ। यह काम उन्होंने अनंत करुणा के साथ और ऐसी सिनेमाई भाषा में किया जो भारत में अब तक अज्ञात थी।

पाथेर पांचाली सिनेमाई भाषा और इसकी भारतीयता दोनों ही दृष्टियों से पहले कहीं न दिखाई देने वाली पूर्णता और आवेग को दर्शाने वाले भारतीय सिनेमा की शुरुआत की प्रतीक बनी। इसने पहली बार सिनेमा पर पूर्व-पश्चिम संश्लेषण के दृष्टिकोण को आरोपित किया, उस संश्लेषण को जिसने परंपरागत कलाओं में नया जीवन संचार किया। आज के शिक्षित भारतीय को अपनी उस नाभि-नाड़ी की तलाश की जरूरत है जो उसे स्वयं उसकी अपनी परंपरा और सामान्य आदमी के साथ जोड़े और उसे एक शरणार्थी होने से बचाये। राय की प्रथम फिल्म ने उसे अधिकार प्राप्त होने के अपराध बोध से मुक्त होने का रास्ता दिखाया। इनमें से बहुत सी प्रवृत्तियां नये भारतीय सिनेमा का अंग बन गयी हैं और पहचान की कमी वाली व्यावसायिक फार्मूला फिल्मों के विरुद्ध प्रतिवाद का अंग भी बन गयी हैं। अखिल भारतीय फिल्में आज भी उपनामों, क्षेत्रीय वेशभूषाओं और भौगोलिक अवस्थितियों से बच सकती हैं और एक ऐसी सतही सर्व साधारणता को बनाये रखती हैं जिसकी अपनी कोई जड़ें नहीं होतीं। ये फिल्में अभी भी नकल पर चलती हैं, इनमें मिथक या अतिनाटकीयता की सचेष्ट समझ नहीं है। ये केवल लोक रूपों की नकल मिला देती हैं जो पारसी थियेटर के गैर व्याख्यात्मक प्रकार के प्रदर्शन और रवि वर्मा की पेंटिंग जैसे परिणाम देती हैं। ये दो प्रमुख तत्व हैं जो भारतीय दृश्य और अभिनय प्रदर्शन परंपरा में विच्छेद का कारण बने। यह रवि वर्मा के बाद ही है कि हमारी पेंटिंग में भारतीयता का सवाल उठा। रवि वर्मा उस बंगला स्कूल के भयकर व्यक्ति थे जिसने फीकी बुद्धिवादी ब्रिटिश पेंटिंग के प्रतिशोधक रूप का उतनी ही तीव्रता से विरोध किया जितना कि अपने ही स्कूल के पूर्व चित्रकारों के ललकपूर्ण पुनर्जागरण का किया। गगनेन्द्रनाथ, रवीन्द्रनाथ, विनोद बिहारी और राम किंकर के कामों ने परंपरावाद और साथ ही पश्चिमीकरण से नयी मुक्ति का अहसास कराया।

सिनेमा में फालके के बाद की धारा सामाजिक फिल्मों की ओर उस धर्म-पुराण से अलग हुई जिसे स्वयं फालके ने अपनाये रखा था। शांताराम और विनायक ने ऐसी फिल्में बनाईं जिनके स्वर में आधुनिकतावादी झुकाव परिलक्षित था। यह स्वर देश की उस आकांक्षा से जुड़ा हुआ था जो अपनी संस्कृति के समकालीनीकरण के लिए थी। इसके बावजूद एक माध्यम के रूप में सिनेमा की उनकी समझ अपर्याप्त थी। विविध प्रकार के सिनेमा के आधारभूत निर्माण तत्व के रूप में जीवन का यथार्थपरक अंश इसमें समाविष्ट नहीं हुआ। यथार्थ के ऊपर पौराणिकता वर्चस्व बनाये हुए थी। शैली और वक्तव्य की भारतीयता के साथ सिनेमा की यथार्थवादी शब्दावली के विलय को सत्यजीत राय के आगमन की प्रतीक्षा थी।

पौराणिकता और यथार्थ तथा भारतीय सिनेमा में उनके प्रभाव के बारे में विस्तृत चर्चा के लिए देखें, लेखक की पुस्तक 'द पेंटेड फेस : स्टडीज़ इन इंडियास पापुलर सिनेमा' (रोली बुक्स, दिल्ली, 1991)

3

पाथेर पांचाली से पूर्व

सत्यजीत राय का परिवार अपनी वंश परंपरा को मध्य 16वीं शताब्दी के रामसुंदर देव से जोड़ता है, पश्चिम बंगाल के एक ऐसे जिले से जो शुद्ध बंग्ला शैली का केंद्र और बंगाली सभ्यता का नाभिस्थल माना जाता है। राय की पदवी (कुछ समय के लिए भद्रता सूचक राय चौधरी) जमींदारों के लिए बहुप्रचलित, 18वीं शताब्दी के आसपास दी गई होगी। 19वीं शताब्दी में राय के दादा उपेन्द्रकिशोर के साथ ही राय परिवार आधुनिक बंगाल में एक विशिष्ट सांस्कृतिक पहचान के रूप में उभरा, संभवतः टैगोर घराने का शक्तिशाली कुनबा ही इस मामले में उनसे आगे था।

टैगोर लोगों की तरह राय लोग भी ब्रह्म समाज में शामिल हो गये थे। ब्रह्म समाज ऐसे उत्साही समाज सुधारकों का समुदाय था जिन्होंने प्राचीन वेदांतिक हिंदू तत्व को ईसाई रूप में ढालकर अपने धर्म में शामिल कर लिया था। और पारंपरिक हिंदू समाज को आधुनिक समय के अनुसार परिवर्तित करने की अपनी आकांक्षा में अतिनैतिक आचारों की प्रेरक शक्ति का विकास किया था।

उपेन्द्रकिशोर ने पश्चिम बंगाल में हाफ टोन ब्लाक निर्माण, प्रिंटिंग और पुस्तक प्रकाशन का मार्ग प्रशस्त किया। यह काम उन्होंने यू.रे (बाद में यू.रे एंड संस) नाम से तब किया जब 19वीं शताब्दी 20वीं की ओर मुड़ रही थी। उन्होंने ब्रिटिश प्रिंटिंग उद्योग की पत्रिका 'पेनरोजएनुअल' के लिए लेख लिखे, अपनी स्वयं की खोजों से प्रिंटिंग प्रक्रियाओं में सुधार संशोधन किये, बच्चों के लिए किताबें लिखीं और उनके रेखांकन, छपाई, प्रकाशन तथा बिक्री के काम किये। उन्होंने गीत भी लिखे जो आज भी ब्रह्म समाज में गाये जाते हैं। वे बांसुरी और वायलिन वादक भी थे। उनके बड़े भाई शारदारंजन ने क्रिकेट की शुरुआत की, अन्य भाईयों में से एक प्रोफेसर तथा अन्य लेखक थे। कुलदारंजन और प्रमदारंजन राय ने जूल्स वर्न और आर्थर कानन डायल की पुस्तकों का अनुवाद बच्चों और किशोरों के लिए किया। समूचे परिवार में बच्चों के साहित्य के प्रति लगाव था। लेकिन सबसे ज्यादा लगाव सत्यजीत राय के पिता सुकुमार राय को था। उनकी बेतुकी कविताएं अपनी कल्पनाशील छंदबद्धता और अन्वेषणशक्ति वर्णन के कारण बंगाली बच्चों द्वारा आज भी

याद की जाती हैं और बच्चों के माता पिता आज भी उनका आनंद लेते हैं। उन्होंने संदेश (समाचार और मिठाई दोनों अर्थ) नाम की बच्चों की एक पत्रिका का प्रकाशन और संपादन किया जो बहुत ही लोकप्रिय हुई थी और कुछ वर्षों बाद उनके एकमात्र पुत्र सत्यजीत राय द्वारा पुनर्प्रकाशित की गई थी।

सुकुमार राय का निधन 1923 में हुआ जब सत्यजीत राय मुश्किल से दो वर्ष के थे। उनका पालन-पोषण उनकी मां ने अपने भाई के घर में ममेरे भाई-बहनों, मामा-मामियों वाले एक भरे-पूरे और फैले हुए कुनबे के बीच किया। उनकी मां जो लंबे सधे व्यक्तित्व की स्वामिनी थीं, रवीन्द्र संगीत की मंजी हुई गायिका थीं और उनकी आवाज काफी दमदार थी। उनके द्वारा निर्मित बुद्ध और बोधिसत्व की मिट्टी की मूर्तियों ने लोगों का ध्यान आकर्षित किया। यह परिवार अपरिहार्य रूप से टैगोर घराने के नजदीक था। प्रेसीडेंसी कालेज, कलकत्ता से स्नातक होने के बाद राय पेंटिंग के अध्ययन के लिए जिसमें वे प्रारंभिक अवस्था में ही अपनी योग्यता प्रदर्शित कर चुके थे, रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा स्थापित रवीन्द्र भारती विश्वविद्यालय, शांतिनिकेतन चले गये। यहां उन्होंने नंदलाल बोस और विनोद बिहारी मुखोपाध्याय जैसे सिद्धहस्त कलाकारों से शिक्षा प्राप्त की जिन पर बाद में उन्होंने 'इनर आई' फिल्म बनाई। उन दिनों शांतिनिकेतन साहित्य और कला की नयी भारतीय चेतना के केंद्र के रूप में न केवल देश में बल्कि विश्व भर में चर्चित था। टैगोर के प्रति आकर्षण समूचे भारत से छात्र और अध्यापकों को यहां खींच लाता था। बाहर के अन्य देशों से भी छात्र यहां आते थे और इस तरह एक ऐसी नयी भारतीय संस्कृति के विकास की परिस्थितियां निर्मित हो रही थीं जो अपनी स्वयं की परंपराओं पर आधारित थीं लेकिन विश्व परंपराएं जिनमें टैगोर के व्यक्तित्व और कृतित्व का योगदान हो रहा था, से वह समृद्ध हो रही थीं।

1942 में मध्य भारत के कला स्मारकों के भ्रमण के बाद राय ने शांतिनिकेतन छोड़ दिया। शीघ्र ही उन्हें एक ब्रिटिश विज्ञापन एजेंसी *डी.जे. केमर एंड कंपनी* में वाणिज्यिक कलाकार (कमर्शियल आर्टिस्ट) के रूप में रोजगार मिल गया। जहां काम करते हुए उन्होंने पुस्तकों के आवरण पृष्ठों की डिजाइनिंग और रेखांकन कार्य पर्याप्त मात्रा में किया। यह काम उन्होंने भारतीय पुस्तक प्रकाशन के क्षेत्र में नये मानक स्थापित करने वाले अग्रणी प्रकाशन संस्थान *साइनेट प्रेस* के लिए किया। जिन पुस्तकों का उन्होंने रेखांकन किया उनमें से एक विभूति भूषण बंद्योपाध्याय की *पाथेर पांचाली* का संक्षिप्त संस्करण भी था।

इस समय तक, फिल्मों में उनकी रुचि पर्याप्त रूप से उजागर हो चुकी थी। 1947 में उन्होंने अन्य लोगों के साथ (मेरे सहित) कलकत्ता फिल्म सोसायटी की स्थापना की और भारतीय सिनेमा की समस्याओं को तथा सिनेमा किस तरह का होना चाहिए, विषय पर लेख लिखे। कलकत्ता फिल्म सोसायटी ने बड़ी संख्या में सिने प्रेमियों को जुटाया जिनमें

से कुछ प्रमुख फिल्म निर्माता बने। राय की पहल ने न केवल उन्हें फिल्म शिक्षण प्रदान किया बल्कि अन्य को भी फिल्मी शिक्षा प्रदान की, क्योंकि कलकत्ता फिल्म सोसायटी ने विश्व सिनेमा की बहुत सी ऐसी प्रमुख कृतियों का प्रदर्शन किया जो इससे पूर्व भारत में कभी नहीं दिखाई गयी थीं। इनमें आइसेंस्टीं और पुदोवकीन, राबर्ट फ्लेहार्टी, जॉन ग्रिअरसन, मार्शल कार्न, ज्यूलिअन दुविविअर आदि की फिल्में शामिल थीं। जब तक उनकी पहली विदेश यात्रा नहीं हुई तब तक फिल्म सोसायटी ही विश्व सिनेमा से साक्षात्कार की एक मात्र साधन बनी रही और बाद में भी लंबे समय तक सोसायटी इस साक्षात्कार को जारी रखे रही। वे फिल्म पत्रिकाओं और पुस्तकों को भी खूब पढ़ते थे और हॉलीवुड वितरकों की अलमारियों में अंग्रेजी शीर्षकों के अंतर्गत छिपी बहुत सी प्रसिद्ध फ्रांसीसी फिल्मों को पहचानने की क्षमता रखते थे। उदाहरण के लिए दुविविअर की फिल्म *कार्नेट डु बाल* अंग्रेजी में डब किये गये संस्करण में *डांस आफ लाइफ* (जीवन का नृत्य) नाम से जानी जाती थी। सोसायटी में जिन लोगों से राय ने मुलाकात की उनमें ज्यां रेनोइर, पुदोवकिन, निकोलाइ चैरकासोव, जॉन हस्टन तथा अन्य थे। 1948-49 के दौरान उनकी जान पहचान ज्यां रेनोइर से हुई, जो गंगा के तट पर *द रिवर* के निर्माण के लिए कलकत्ता में मौजूद थे। 1950 में उनके नियोक्ताओं ने उन्हें अग्रिम प्रशिक्षण के लिए लंदन भेजा। यहां उनकी लिंड्से एनडर्सन और गाविन लम्बर्ट से मित्रता हुई और उन्होंने अपने साढ़े चार माह के प्रवास के दौरान लगभग सौ फिल्में देखीं जिनमें *बाइसिकिल थीव्स* तथा अन्य इतालवी नव-यथार्थवादी फिल्में शामिल थीं, जिन्होंने उनके ऊपर गहरा प्रभाव छोड़ा। जलयान द्वारा भारत वापस लौटते समय ही उन्होंने *पाथेर पांचाली* की पटकथा लिखना शुरू किया। 1952 में भारत के पहले अंतर्राष्ट्रीय फिल्म महोत्सव का आयोजन हुआ जिसमें उन्होंने एक बार फिर इतालवी नव-यथार्थवादी फिल्मों से साक्षात्कार किया। साथ ही जापान सहित अन्य देशों की फिल्में भी उन्होंने देखीं।

उस समय *पाथेर पांचाली* ने कैसी भी सनसनी पैदा की हो, प्रत्यक्षतः इसने तात्कालिक भारतीय कलाओं में निहित मूल्यों को सिनेमा में स्थानांतरित करने से अधिक बड़ा काम नहीं किया। यथार्थपरक वर्णन, सामाजिक जागरूकता, एक व्यक्ति के प्रति सहानुभूति, माध्यम के प्रति निष्ठा जैसे गुण रवीन्द्रनाथ टैगोर की कहानियों, शरतचंद्र चटर्जी की *महेश, रामेर सुमति* जैसी लंबी कहानियों, रामपद मुखोपाध्याय, विभूति बंद्योपाध्याय, विभूति मुखोपाध्याय, प्रेमेन्द्र मित्र के उपन्यासों में बहुतायत में मौजूद थे। और माणिक बंद्योपाध्याय की रचनाओं में ये एक नयी उग्र शक्ति के रूप में उभरे। सीता और शांता देवी, आशापूर्णा देवी और गजेन्द्रनाथ मित्र के उपन्यास मध्य वर्गीय दैनिक जीवन के चित्रण के लिए उल्लेखनीय थे।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय तक, इस समृद्ध साहित्य के बहुत से मूल्य अन्य कलाओं

में प्रविष्ट होना शुरू हो गये थे। 1940 के आसपास यूथ कल्चर सोसायटी और विनय राय के "सांग स्क्वाड" (गीत दल) ने इस चेतना को सक्रिय रूप देना शुरू कर दिया था। 1943 के ब्रिटिश-जनित अकाल में जिसने दिमाग को हद तक विचलित करने की जानें ले ली थीं इस चेतना को और अधिक प्रखर किया और बिजन भट्टाचार्य के नाटक 'नबाना' तथा इंडियन पीपुल्स थियेटर एसोसिएशन (भारतीय जन नाट्य संघ—इप्टा) को जन्म दिया। चित प्रसाद के चित्रों, ज्योतीन्द्र मित्र, विष्णु डे, सुभाष मुखोपाध्याय की कविताओं, फासीवाद विरोधी लेखकों और कलाकारों के संगठन के गठन (बाद में यह संगठन प्रोग्रेसिव राइटर्स एंड आर्टिस्ट एसोसिएशन- प्रगतिशील लेखक एवं कलाकार संघ के नाम से जाना गया) ने समाज को समझने और इसकी धारा को बदलने में कलाओं की भूमिका के प्रति एक नयी जागरूकता पैदा की। इप्टा, ने विशेष रूप से बंगाल में प्रदर्शक कलाओं पर अमिट छाप छोड़ी। इसने नाटकों के क्षेत्र में नाटकों को विक्टोरियाई पतनशीलता के जाल से मुक्त कराने की दिशा में पूरी तरह एक नये आंदोलन का सूत्रपात किया। छठे दशक के मध्य तक बंगाल का अग्रगामी थियेटर अपना प्रभाव निर्मित कर चुका था। बहुरूपी के *छेनरा तार* जैसे नाटक नाटकीय यथार्थवाद, सामाजिक जागरूकता में अमापित ऊंचाइयों तक पहुंचे। उदयशंकर भारतीय नृत्य के क्षेत्र में नये रूपों की रचना कर चुके थे और राधा के विरह से हटकर "लेबर एंड मशीनरी" (श्रम और मशीन) जैसे अनसुने विषयों की ओर मुड़ चुके थे। अखिल भारतीय सम्मेलनों के माध्यम से शास्त्रीय संगीत का पुनरागमन पूरी तेजी पर था। दूसरे शब्दों में, भारतीय लेखक और कलाकार *पाथेर पांचाली* से काफी पहले सामान्य व्यक्ति और परंपरा के साथ अपनी पहचान के भाव की खोज में सक्रिय हो चुके थे। यह कार्य सिनेमा को छोड़कर कलात्मक अभिव्यक्ति के सभी शेष रूपों में दिखाई देने लगा था।

ऐसा नहीं था कि इस नयी सर्वहारा चेतना को नये माध्यम तक लाने का कोई प्रयास ही नहीं हुआ था। ख्वाजा अहमद अब्बास ने 1941 में ही बांबे टाकीज के लिए *नया संसार* नामक फिल्म बनाई जो एक बड़े पूंजीपति के दबाव में काम कर रहे पत्रकार के बारे में थी। 1949 में उन्होंने *धरती के लाल* फिल्म बनाई जो इप्टा द्वारा निर्मित *नवान्न* के हिन्दी संस्करण पर आधारित थी, इसमें उन्होंने बंगला नाटक के मूल अभिनेताओं में से शंभु और तृप्ति मित्रा को लिया था। इससे भी पहले जातीय दुराग्रहों और दहेज प्रथा आदि को अनुचित ठहराने वाली राष्ट्रवादी तथा सामाजिक रूप से प्रगतिशील अनेक फिल्में आ चुकी थीं, लेकिन यह पहली बार हुआ था कि पूर्ण रूप से वाम धारा से प्रेरित और सहानुभूति में स्पष्ट सर्वहारा रुझान की फिल्म सामने आई। दुर्भाग्यवश सिनेमा में अब्बास की भावनाएं उस हद तक प्रभावशाली नहीं थीं जिस हद तक *नवान्न* और *छेनरा तार* जैसे नाटकों में शंभु मित्रा की भावनाएं थियेटर के प्रति थीं। हालांकि यह फिल्म पेरिस, लंदन और मास्को में प्रदर्शित

की गई और इसे मील का पत्थर भी माना गया, लेकिन यह मूल रूप से फिल्माया हुआ नाटक थी। अब्बास का प्रगतिशील तत्व प्रायः उनकी शैली की योजनाकारी के चलते बिखर जाता था। अब्बास की यह शैली बाद में व्यावसायिक सिनेमा की शैली के अति निकट तक पहुंची। *सात हिंदुस्तानी* के अंत में, देश के सात अलग अलग भागों के सात भारतीय, सात पीली काली टैक्सियों में चलते हैं, उनके दरवाजे समान रूप से खुलते हैं जिससे एक उच्च स्तरीय संगीतमय प्रभाव पैदा होता है। यह संगीतमय प्रभाव इप्टा के नृत्य और नाटकों से लिया गया है जो स्वयं अपनी शैली में उदयशंकर की शैली से संबद्ध है। इप्टा की यह संगीतमय धारा बहुतों की सांस्कृतिक रचनाशीलता में बहुत तीव्रता से प्रवाहित रही। बहुत ने बाद में इसे छोड़ भी दिया, जैसा कि मृणाल सेन की 1976 में बनी फिल्म *मृगया* के अंतिम दृश्यों में भी स्पष्ट है। अंत में आदिवासी लोग पहाड़ी के शिखर पर छाया कृतियों के रूप में दिखाये गये हैं।

1952 में ऋत्विक घटक ने अपनी पहली फिल्म *नागरिक* बनाई। इसमें यदाकदा प्रतिभा की चमक दिखाई देती है लेकिन सामान्यतः इसमें पारंपरिक बंगला फिल्म की परिपाटी का ही निर्वाह किया गया है। इसमें वह नयी सिनेमाई भाषा नहीं है जो *पाथेर पांचाली* के तीन साल बाद बनाई गई फिल्म *अजांत्रिक* में उभरकर आई। प्रत्यक्षतः *पाथेर पांचाली* की प्रेरणा इसमें काम कर रही थी यद्यपि राय की प्रथम फिल्म की शैली के साथ इसकी कोई समानता नहीं थी (इसमें राय की कुछ तकनीकी नवीनताओं को अपनाया गया था जैसे कि अत्यधिक आउटडोर शूटिंग, यथार्थवादी दृश्य-सज्जा, फिल्टरों का बहुत ज्यादा प्रयोग न करना आदि)।

राय का सिनेमा का प्रारंभिक प्रशिक्षण हॉलीवुड फिल्मों के अध्ययन के रूप में हुआ—वास्तव में आजादी से पूर्व वे ये ही फिल्में देख सकते थे। जैसा कि उन्होंने बार बार कहा—उन्होंने फिल्म निर्माण मुख्यतः अमरीकी फिल्मों को बार बार देखकर सीखा। तार्किक और (कम से कम सतह पर) यथार्थवादी वर्णन की हॉलीवुड शैली ने उनके ऊपर गहरा प्रभाव छोड़ा। (मुझे उनकी वह उत्तेजना अभी तक याद है जो उन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरंत बाद पाउलेट गोदार्द से मिलने का अवसर प्राप्त होने पर महसूस की थी) तथापि औसत हॉलीवुड फिल्म का सतहीपन और कलाकार की निजता या व्यक्तित्व के ऊपर हावी होते हुए स्टूडियो प्रभाव से वे संतुष्ट नहीं होते थे। न्यूयार्क में एशिया सोसायटी में एक भाषण में उन्होंने स्पष्ट किया कि उन्होंने हॉलीवुड से न केवल यह सीखा कि क्या करना चाहिए बल्कि यह भी सीखा कि क्या नहीं करना चाहिए।

दूसरे देशों की फिल्में देखने की जरूरत जिसे हमने *रोजर मानवेल की फिल्म* (पेंग्युइन 1944) में पढ़ा, आवश्यक हो गयी। क्या यही वो कारण था जिसने उन्हें 1947 के मध्य के आसपास मुझे यह कहने के लिए उकसाया, "हम फिल्म सोसायटी की शुरुआत क्यों न करें? कलकत्ता फिल्म सोसायटी में ही उन्होंने आईसेंस्टीं की *बेटलशिप पोटेमकिन, स्ट्राइक,*

जनरल लाइन और *अलेक्जेंडर नेवस्की* फिल्में देखीं। फ्लेहार्टी की *नानूक आफ द नॉर्थ* और *लूसियाना स्टोरी* तथा पुदोवकिन की *स्टॉर्म ओवर एशिया* देखीं। उन्होंने पुदोवकिन से मुलाकात की, साथ ही में निकोलाइ चेर्कासोव से भी मिले जिन्होंने *अलेक्जेंडर नेवस्की* में नेवस्की, *ईवान द टेरिबल में* इवान की भूमिकाएं की थीं! उनकी मुलाकात जॉन हस्टन से भी हुई लेकिन कोई भी मुलाकात शायद इतनी अधिक महत्वपूर्ण नहीं थी जितनी कि ज्यां रेनोइर के साथ हुई मुलाकात, जो *द रिवर* बनाने के लिए 1948-49 में भारत प्रवास पर थे। पेंग्युइन पेपरबेक में छपे रोजर मानवेल को धन्यवाद कि राय के नेतृत्व में कार्यरत हम कुछ लोग यह जान सके कि फिल्म इतिहास में ज्यां रेनोइर के नाम का क्या महत्व था। राय ने उनके बारे में *सीक्वेंस* में लिखा जिसका संपादन लिंड्से एंडरसन करते थे। उन्होंने कलकत्ता प्रवास के दौरान रेनोइर से लगातार मुलाकातें कीं और उन्हें काम करते हुए देखा। रेनोइर की दो टिप्पणियां शायद राय के भावी कामों के चरित्र के बारे में सर्वाधिक महत्वपूर्ण संकेतक हैं। पहली टिप्पणी रेनोइर की फिल्मों में चरित्र-चित्रण के बारे में मानववादी वक्तव्य के रूप में थी कि वे अपने सभी चरित्रों को प्यार करते हैं और किसी का भी तिरस्कार नहीं कर सकते - "कठिनाई यह है कि प्रत्येक के पास अपने तर्क होते हैं (जो वह करता है उसे करने के लिए)" यह बात प्रारंभिक राय से अधिक स्वयं रेनोइर के अलावा किसी अन्य फिल्मकार पर अधिक सच साबित नहीं होती। रेनोइर के दूसरे वक्तव्य ने हम सब के लिए उत्प्रेरक का काम किया, "जब भारतीय सिनेमा हॉलीवुड की नकल छोड़ देगा और अपने इर्द-गिर्द की वास्तविकता को अभिव्यक्त करने का प्रयास करेगा तो यह एक राष्ट्रीय शैली तलाश लेगा।" इस वक्तव्य के कई संस्करण मेरे सामने आये जो अलग अलग शब्दों में रहे हैं और मुझे संदेह है कि शायद ही किसी वक्तव्य में एकदम सही शब्द आ पाये हैं। लेकिन अर्थ बहुत स्पष्ट है। इस टिप्पणी का महत्व *पाथेर पांचाली* के पूरी तरह क्षेत्रीय वास्तविकता के प्रति समर्पण और किसी भी प्रकार की मॉडल की नकल करने से अस्वीकार करने में दिखाई देता है। लेकिन रेनोइर के शब्दों के अलावा उनकी फिल्म *द रिवर* थी जिसमें आवेश प्रतिभायुक्त आशु प्रयोग तथा भारतीय संगीत का उल्लेखनीय इस्तेमाल हुआ है। जैसा कि एक दृश्य में आसमान में पतंग उड़ती है और कर्नाटक संगीत की तान उठती है, भी बहुत प्रभावी साबित हुई।

लंदन से उनके घर वापस लौटने के साथ ही भारत का पहला अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह आयोजित हुआ जो नव-यथार्थवाद से भरा हुआ था और इसमें कुरोसावा की प्रतिभा की झलक दिखाने वाली फिल्म *राशो मोन* भी शामिल थी। अगर राय इन प्रभावों के मध्य न आये होते तो उनकी पहली फिल्म शायद *प्रीजन आफ जेंदा* (जिसका पटकथा लेखन उन्होंने पांचवें दशक की शुरूआत में कभी किया था) या टैगोर की *घरे बाहरे* (घर और दुनिया) का रूपांतरण बनकर रह गयी होती। हालांकि वे पहले से ही गैर व्यावसायिकता को अभिनय,

में लेने की बात सोच रहे थे। (सबूत, जैसा कि मैरी सीटन ने कहा है कि *पाथेर पांचाली* में वे इतालवियों की नकल नहीं कर रहे थे) संदेह है कि यदि उन्होंने टैगोर की कहानी ली होती, *प्रिजनर ऑफ जेंदा* की बात छोड़ दें तो क्या वह *पाथेर पांचाली* जैसी अच्छी पहली फिल्म बन सकती थी।

ऐसा *पाथेर पांचाली* की निर्विवाद सफलता के बाद ही हुआ कि राय ने, जिन्हें फिल्म निर्माण के दौरान कुछ महीनों की छुट्टी सवेतन प्रदान की गयी थी, अंततः डी.जे. केमर एंड कंपनी की अपनी नौकरी छोड़ दी। विज्ञापन में उनकी रुची पूरी तरह कभी भी समाप्त नहीं हुई, अपनी प्राथमिक फिल्मों के लिए प्रचार सामग्री खुद ही तैयार करने के अलावा वे कई वर्षों तक क्लेरियन्र एडवरटाइजिंग सर्विसेज (डी.जे. केमर के उत्तराधिकारी, और कर्मचारियों के स्वामित्व वाली) के एक निदेशक के रूप में कार्य करते रहे। यहां उनके कई पुराने साथी अभी कार्य करते हैं। 1971 में बनी *सीमाबद्ध* अपने आप में एक पूरी विज्ञापन फिल्म को समोये हुए है जिसके निर्माण में राय ने अवश्य ही आनंद लिया होगा।)

4

त्रयी

पाथेर पांचाली के निर्माण में दो बातें उल्लेखनीय थीं—एक तो स्वयं इसकी अवधारणा : वह तरीका कि इसने स्वयं को तत्कालीन भारतीय फिल्म निर्माण की सभी मान्यताओं के विरुद्ध स्थापित किया। दूसरी बात थी इस अवधारणा को मूर्त रूप देने का अटल प्रयास।

पूरे दिन लोकेशन पर दृश्य फिल्माये जाते थे, केवल रात्रि दृश्य ही स्टूडियो में फिल्माये जाते थे और वह भी लोकेशन की स्थितियों को पूरी बारीकियों के साथ पुनर्संयोजित करके। दो लाख रुपये का इसका बजट उन दिनों भी कम था, इसमें बड़े अभिनेता नहीं थे और बहुत से कलाकार गैर व्यावसायिक थे जो बिना किसी रूप सज्जा के कार्य करते थे। जिनके पास अभिनय का अनुभव था, वे भी प्रायः जनता के लिए अपरिचित थे। एक अस्सी वर्षीय झुकी कमर वाली वृद्धा के फिल्म में अभिनय करने की बात किसने सुनी थी? इसमें भारतीय संगीत को पार्श्व संगीत के रूप में इस्तेमाल किया गया था (उन दिनों भारतीय संगीत को फिल्मों के लिए प्रतिकूल समझा जाता था क्योंकि इसका कोई "आकार" नहीं था) फिल्म में गीत, नृत्य और रोमांस नहीं थे। यह पूरी तरह क्षेत्रीय थी एक विशिष्ट काल और स्थान से बंधी हुई। यह प्रखरता के साथ वैयक्तिक थी और फिल्म निर्माण के सभी पहलू पूरी तरह निर्देशक के हाथ में थे। वह और उनकी यूनिट दोनों ही पूरी तरह अनुभव हीन थे। उस समय इनमें से प्रत्येक ने फिल्म निर्माण के किसी न किसी नियम को तोड़ा।

पाथेर पांचाली के बाद राय अक्सर कहा करते थे कि उन्होंने फिल्म निर्माण फिल्में देखकर सीखा। जो बातें फिल्में नहीं सिखा पाई वे उन्होंने काम के दौरान सीखीं।

फिल्म की पटकथा के पहले प्रारूप से लेकर इसके रिलीज तक *पाथेर पांचाली* पांच साल तक एक आदर्श की कसौटी पर कसी रही। इस अवधि के दौरान वे डी.जे. केमर एंड कंपनी में इसके कला निदेशक के रूप में कार्य करते रहे। फिल्म का एक अच्छा खासा भाग सप्ताहांत में फिल्माया गया जिनमें से कई दिन मशीनी तकनीक में मजाव के प्रयोगों में खर्च हो गये। पूरी अवधि भर राय अपने दृष्टिकोण को यथावत बनाये रहे और समर्पित अनुयायियों की उनकी टीम का भरोसा इस दृष्टिकोण के प्रति कभी विचलित नहीं हुआ। यह कहानी कि उन्होंने अपनी बीमा पालिसी और अपनी पत्नी के जेवरों को लगभग चालीस

प्रतिशत फिल्म बनाने के लिए किस तरह गिरवी रखा और किस तरह पश्चिम बंगाल की कुछ कुछ नासमझ सरकार की मदद से उन्होंने इस फिल्म को पूरा करने में सफलता पाई, अब इतनी अधिक जानी पहचानी है कि उसे दोहराने की कोई जरूरत नहीं। प्रतीक्षा का समय इस भय से भरा हुआ था कि काम करने वाले बच्चे यकायक बड़े न दिखने लगें और लाल बत्ती क्षेत्र से आई कभी अभिनेत्री रही वयोवृद्ध चुन्नी बाला देवी फिल्मांकन दुबारा शुरू होने से पहले ही स्वर्गवासी न हो जायें। कभी कभी काम होते होते रुक जाता था, सत्यजीत अपनी सामर्थ्य की हद तक पहुंच गये थे और अपना रुपया वापस पाने के लिए जो कुछ उन्होंने फिल्माया था उसे बेचने को तैयार थे—लेकिन इससे पहले कि पश्चिम बंगाल सरकार उनके उद्धार के लिए आगे आती, व्यावसायिक रूप से सफल निर्देशकों के पास जिनके शब्द ही काम कर सकते थे, इस फिल्म को लेने के लिए समय नहीं था।

इस फिल्म का विश्व प्रथम प्रदर्शन (प्रीमिअर) न्यूयार्क में आधुनिक कला संग्रहालय में हुआ जहां इसे अली अकबर खान के सरोद वादन तथा शांता राव के भरत नाट्यम नृत्य के साथ भारतीय संस्कृति के प्रतिनिधित्व के बतौर दिखाया गया था। जिन समीक्षकों ने इसे देखा था उनमें से कुछ की बहुत ही शानदार प्रतिक्रिया इस फिल्म को प्राप्त हुई लेकिन इस प्रतिक्रिया पर मुश्किल से ही कुछ भारतीय प्रेस में छपा होगा। भारत में इसका प्रथम प्रदर्शन एडवरटाइजिंग क्लब आफ कलकत्ता के वार्षिक दिवस पर ओर्डनेंस क्लब के नृत्य कक्ष में ऐसे दर्शकों के सामने हुआ जो पर्दे पर नंगी सच्चाई को देखने के बजाय व्हिस्की पीने में अधिक रुचि रखते थे। उस शाम उपस्थित लोगों में से मात्र कुछ लोग ही, जो उन्होंने देखा था, उसका महत्व समझ पाये थे। उसके कुछ समय बाद ही जब *पाथेर पांचाली* को व्यावसायिक रूप से रिलीज किया गया तो पहले दो सप्ताहों तक सिनेमा घर आधे खाली रहे। फिर इसके बारे में चर्चा होनी शुरू हुई और दर्शक आने लगे। सामान्य कलकत्तावासियों की लंबी कतारें इसे देखने को जुटने लगीं। इस फिल्म के प्रति कलकत्तावासियों का उत्साह ही था जिसने इसे निर्विवाद सफलता प्रदान की। फिल्म ने उन्हें विचलित किया और वे आश्चर्यचकित थे कि सिनेमा में ऐसी चीजें भी संभव थीं। भदेस भाषा में, कुछ लोगों को कहते सुना गया, "ये नाजायज लोग हमें लगातार धोखा देते रहे हैं असली चीज तो यह है।" बंगाल के बाहर की आम धारणा के विपरीत *पाथेर पांचाली* की प्रारंभिक सफलता का इसकी देश से बाहर की प्रतिष्ठा से कुछ लेना देना नहीं था। वह प्रतिष्ठा तो अभी अर्जित की जानी थी। यद्यपि *पाथेर पांचाली* को 1956 में केन्स में एक पुरस्कार दिया गया था, पर वास्तव में 1957 में वेनिस महोत्सव में *अपराजितो* को मिला ग्रांड प्राइस पुरस्कार ही था जो *पाथेर पांचाली* को अंतर्राष्ट्रीय आलोक में लाया। न्यूयार्क में *पाथेर पांचाली* सितंबर 1958 से पहले रिलीज नहीं हो पाई।

भारत के पांच लाख से अधिक गांवों में से एक गांव में एक ब्राह्मण लड़का पैदा होता

है, उसे हजारों परंपराओं की गहराइयों में से निकालकर वह 19वीं शताब्दी के तीसरे दशक में उभारता है। यह घटना उसके निर्धन कवि पुरोहित पिता, मेहनतकश मां और एक ऐसी बहन के लिए जो जिंदगी द्वारा सौंपा हुआ कुछ भी पाने के लिए आतुर हों, काफी खुशियां लाती है। वह एक पारंपरिक ग्राम्य विद्यालय में जाता है जहां उसकी प्राकृतिक उत्सुकता पर नियंत्रण रखा जाता है, वह जीवन से सीखता है, उसकी वृद्धा बुआ की मृत्यु हो जाती है फिर उसकी बहन की भी मृत्यु हो जाती है, वे गांव छोड़ देते हैं, वह प्राचीन बनारस के इर्द-गिर्द घूमता है, दृश्य, ध्वनि और गंध के माध्यम से सीखता हुआ। फिर उसके पिता की भी मृत्यु हो जाती है, कबूतरों की उड़ान और नदी तट पर दंड-बैठक लगाते हुए एक पहलवान के दृश्यों के बीच। थोड़े समय के लिए वह वापस ग्राम जीवन की ओर लौटता है लेकिन उसे एक स्कूल और एक अध्यापक मिलता है जो उसे बाहर की बड़ी दुनिया की ओर ले जाते हैं। वह अपनी नासमझ मां को दुनिया का रहस्य समझाने का निरर्थक प्रयास करता है। वह ज्यों ज्यों दुनिया के प्रति आकर्षित होता जाता है अपनी मां से कटता जाता है। वह मां जो उसे अपने पल्लू के साये में रखना चाहती है, बिना उन परिवर्तनों का ख्याल किये हुए जो उसके पुत्र के भीतर जन्म ले रहे हैं। वह अपने पुत्र को याद करती हुई अपना समय तालाब के निकट एक पेड़ के नीचे बैठकर बिताती है और एक दिन जुगनुओं से भरी एक शाम को उसकी मृत्यु हो जाती है। वह उदास हो जाता है लेकिन वह मुक्ति भी महसूस करता है, वह अकेला है। पुलु के रूप में उसे एक मित्र मिल जाता है, रेल पटरी के निकट एक अटारी में वह रहने लगता है, अपना खाना खुद पकाता है, बांसुरी बजाता है और कालेज में अध्ययन करता है। वह अपने मित्र की बहन को एक पारंपरिक दुर्घटनावश सामाजिक बहिष्कार से बचाने के लिए उससे शादी करता है। समान रूप से परंपरागत ढंग से वह लड़की भी अपना जीवन उस व्यक्ति के साथ जीने के लिए जिसे भाग्य ने उसके लिए निर्धारित कर दिया है, अपने पिता के वैभव को त्याग देती है। लड़का उसे गहराई से निरंतर प्रेम करता है इस रूप में नहीं कि उसने अपनी शक्ति के बूते पर लड़की को पाया है बल्कि पूर्वजों के सद्कर्मों के फलस्वरूप तथा ईश्वरीय इच्छा की परिणति के रूप में ही वह प्यार करता है। अचानक लड़की की मृत्यु हो जाती है उसके जीवन का सारा अर्थ ही समाप्त हो जाता है, मृत्यु उसे श्रेयस्कर लगने लगती है लेकिन यह रहस्यमय है कि वह मर नहीं सकता। वह एक संन्यासी की तरह दुनिया छोड़कर जंगलों में भटकता है। वह अपने प्रिय प्रथम उपन्यास को भी खो देता है और उसके पृष्ठों को पहाड़ी से नीचे तलहटी में गिरने देता है। वह अपने पुत्र को देखने से इंकार कर देता है, पुत्र ही अपनी मां की मृत्यु का कारण है। लेकिन समय आता है कि वह जाता है अपने पुत्र को तलाश करता है, उसे वापस लेता है और पुनः जीवन के व्यापार में शामिल हो जाता है। *त्रयी* की कहानी में आदर्श और उदात्त सहजता है।

विभूति भूषण का दो खंडों वाला उपन्यास जिसके ऊपर राय की *त्रयी* आधारित है एक असंबद्ध रूपाकार वाली रचना है, प्रेम की रूमानी, दार्शनिक, घुमक्कड़ी और आश्चर्य भरी धारा वाली, उस जिंदगी के प्रति जो लगातार दुख और सुख से परे पहुंचती है बिना किसी लगाव वाली। आप कितने भी साफ दृष्टि वाले क्यों न हों इस रचना में सम्मोहक आकर्षण महसूस होता है, यह जमीनी वास्तविकता से हमेशा कुछ फुट ऊपर उठी रहती है, वास्तविकता को पर्याप्त निकटता से देखते हुए और फिर भी इससे अछूता रहते हुए। सर्वोपरि विभूति भूषण देखते हैं कि एक जादुई फिल्म फैली हुई है जिसे वे ऐसी वस्तु में बदल देते हैं जो चंद्रमा के प्रकाश में दृष्टिगोचर होती है। विभूति भूषण को प्रकृति से असीम प्रेम था और उसके बारे में सूक्ष्म और विस्तृत जानकारी भी। प्रकृति उनके लिए किसी अदृश्य ईश्वरीय सत्ता की अभिव्यक्ति है और मनुष्य को कष्ट से ऊपर उठने में मदद करती है। हर अलगाव दुखद होता है फिर भी यह बंधन से नयी मुक्ति का अहसास कराता है। दूसरे विशाल खंड *(अपराजितो)* के अंत में अपु अपने पुत्र काजल के साथ कुछ दिन रहने के बाद उसे अपने मित्रों के संरक्षण में छोड़कर निकल लेता है और अपनी घुमक्कड़ी को अपना लेता है। समुद्र पार जाता है शायद ताहिती के लिए...

विभूति भूषण के दुनिया के दर्पण बिंब जैसे चित्रण में अपु आदर्श चरित्र है जो बहुत ही वास्तविक है फिर भी बहुत ही अमूर्त है। अनेक उपन्यासों के माध्यम से विस्मय और विकर्षण का उनका दर्शन ऊंचाई पर ऊंचाई प्राप्त करता है। दृष्टि प्रदीप में उनका बाल नायक अपनी पवित्रता और विकर्षण में देवदूत जैसा है, 'देवजन' में वह वास्तव में देवदूत बन जाता है। हमेशा ही विभूति भूषण का यथार्थ का सूक्ष्म अवलोकन हमें यथार्थ से परे, या शायद, कोई कह सकता है, कि इससे उठाने की ओर प्रवृत्त करता है।

राय विभूति भूषण के निकटता से अवलोकित यथार्थ से सुनहरा बंगाल (सोनार बांगला) आभा को बहुत ही सतर्कता से दूर करते हैं और इसे अधिक कठोर दिखाते हैं, अधिक तत्कालीन, फिर भी मूल दृष्टि की पवित्रता का कुछ बचाये रखते हैं। राय का अपु वयस्क होता है। जब वह अपने पुत्र को वापस लेता है तो ऐसा कोई संकेत नहीं मिलता कि वह अपनी रूमानी घुमक्कड़ी को फिर से अपना लेगा। यह भी कि राय विकर्षण और मुक्ति पर विभूति भूषण द्वारा दिये गये जोर को कम करते हैं। अपु का गांव से बनारस और फिर कलकत्ता जाना उपन्यास की तुलना में फिल्म में सामाजिक बदलाव का इतिवृत्त कहीं अधिक बनता है। रेल पटरियां इस बदलाव का संकेत बनती हैं। कवि पुरोहित हरिहर को एक शताब्दी या कुछ दशकों पहले अधिक सम्मान मिला होता और परिस्थितियां कहीं अधिक आसान नहीं होतीं, आज दोनों में से कुछ भी नहीं है। अपने अध्ययन से और अपने शहर गमन से उसका पुत्र विश्व के बारे में जो जानेगा वह उसकी अपनी जानकारी से बहुत भिन्न है। यह "प्रगति" नहीं है, मानवता से प्रतिबद्धता इतनी गहरी है कि वह तरक्की

का पक्ष नहीं ले सकती, उस सूरत में जबकि एक युग दूसरे के विरुद्ध खड़ा हो। यह एक युग का दूसरे युग में अपरिहार्य प्रवेश है। ठीक उस तरह जैसे बहुत से लोग प्रवाह में होते हैं और बहुत से अन्य इसमें आने होते हैं। अतः यहां नायक और खलनायक नहीं सिर्फ मनुष्य है, हर व्यक्ति के पास इस बात का तर्क है कि वह जैसा है वैसा क्यों है।

साथ ही यह *त्रयी* प्रेम का विजय गीत है। केवल स्त्री और पुरुष के बीच में ही प्यार नहीं जिसे सर्वव्यापी बहुआयामी प्रेम की कीमत पर सिनेमा और साहित्य में बहुत अधिक बढ़ा-चढ़ाकर दिखाया जाता है यही प्रेम *त्रयी* में मौजूद है। मां और पुत्र के बीच, बहन-भाई के बीच, असंबंधित व्यक्तियों के बीच, मनुष्य और प्रकृति के बीच "क्या है" और "क्या होना है" के बीच, इंदिरा ठकुराइन को बच्चे बुआ कहकर संबोधित करते हैं लेकिन वह हरिहर की दूर के रिश्ते में बहन लगती है जो अतीत में कभी हरिहर के परिवार में आ गई थी और परिवारजनों के बीच शरण पा गयी थी। बच्चे उसे इसलिए अधिक प्यार नहीं करते कि वह उनकी बुआ है बल्कि इसलिए करते हैं क्योंकि वह जीवन और मृत्यु की एक रहस्यमय शक्ति का प्रतिनिधित्व करती है। यही बात बच्चों को अधिक आकर्षित करती है। जब स्वयं उसके बच्चों का अस्तित्व दांव पर लग जाता है तभी सर्वजया वृद्धा बुआ की ओर से रुख मोड़ती है और वह वृद्धा एक जानवर की तरह मरती है। *अपुर संसार* में ऐसा है मानो अपु और अपर्णा का एक दूसरे के प्रति प्यार सर्वजया के अपने बच्चों के प्रति या बच्चों के लिए बुआ का उनके पिता के प्रति प्रेम का ही दूसरा पहलू है—एक सम्यक व्यापक देह-रहित प्यार जिसको कि इतनी पावनता के साथ कभी सिनेमा में यदाकदा ही लाया गया है।

उपन्यासों को फिल्म में बदलते हुए राय उसे अधिक कठोर वास्तविकता के निकट लाते हैं, साथ ही वे विभूति भूषण के उस हिंदू दृष्टिकोण में भी भागीदारी करते हैं जिसमें जीवन सांतत्यक है, एक ऐसा प्रवाह जिसमें हानि और लाभ एक ही सिक्के के दो पहलू हैं और मनुष्य मात्र का श्रेष्ठ जीवन लक्ष्य प्रेम करना और फिर भी निष्काम दुखों से अविचलित और सुख से उल्लास रहित रहना है।

त्रयी में मुख्यतः *पाथेर पांचाली* में गरीबी के बारे में बहुत कुछ कहा गया है। यह क्रूर है, अलंकृत है, वास्तविक है और हम जानते हैं कि केवल यही कुछ नहीं है जिससे यही परिवार कष्ट उठाता है बल्कि यह भारत के एक विशाल वर्ग का प्रतीक है यानी उसका प्रतिनिधित्व भी करता है। तथापि यह लुइस माले के "चींटियों के ढेर" से कितना भिन्न है गरीब यहां केवल सांख्यिकीय नहीं है, वास्तव में *त्रयी* के संबंध में उनकी एक दूसरे से गुंथे हुए समूह के रूप में कल्पना नहीं की जा सकती। *त्रयी* में वे किसी भी अन्य चीज से पहले व्यक्ति के रूप में अलग अलग मनुष्य हैं। *पाथेर पांचाली* का गरीबी का चित्रण हृदय विदारक है, मां के आंतरिक शालीन भाव और अपने बच्चों को बचाने के उसके व्यग्र

भीषण प्रयास के कारण, बच्चों की हंसी और सफेद अलसी की बगल से धड़धड़ा कर गुजरती रेलगाड़ी के प्रति उनके आकर्षण के कारण। यह फिल्म आधुनिक भारत की चेतना का प्रतिनिधित्व करती है। इसके बनने के 38 वर्ष बाद *पाथेर पांचाली* आज भी परिमार्जक अनुभव है।

यह आज भी एक पहली फिल्म की स्पष्टता और शुद्धता को व्यक्त करती है। इसकी संरचना संपूर्णता लिए हुए है और इसकी तकनीक अनुभव की कमी को उजागर नहीं करती। केवल दुर्गा की मृत्यु वाले दृश्य में ही थोड़ा सा नाटकीय अतिरेक है जो उसे शेष फिल्म की अंतर संबंधित शैली से अलग करता है। विभूति भूषण के वर्णन की असंबद्ध प्रकृति को कुछ न कुछ बचाये रखा गया है तथापि फिल्म की पटकथा तथा घटनाओं को यथेष्ठ स्वीकार्य ढांचे में सुसंगठित किये रहती है और प्रत्यक्षतः एक असंबद्ध वस्तु से दूसरी वस्तु तक रुचि का निर्वाह तब तक करती रहती है जब तक कि यह अर्थ और सार ग्रहण न कर ले। हरिहर की वापसी का दृश्य और दुर्गा की मृत्यु की खबर के फैलने का दृश्य दुख की अभिव्यक्ति में शक्तिशाली प्रत्यक्षता का आभास कराता है। जो राय की अपनी बाद की फिल्मों में कभी उपलब्ध नहीं हुआ, उसका प्रयास भी नहीं किया। बाद की फिल्मों में वक्तव्य की पूर्णता के स्थान पर एक पुकारती सी अस्पष्टता अधिक से अधिक लिखी जाती है। जब *अपुर संसार* में उन्हें इसकी जरूरत पड़ती है तो उत्तर में वहीं अपरिहार्यता नहीं होती। अपर्णा की मृत्यु की खबर पर अपु की प्रतिक्रिया से इसकी तुलना नहीं की जा सकती–यह प्रत्यक्ष होने की कोशिश करती है लेकिन पूर्णतः सफल नहीं होती।

पाथेर पांचाली अस्तित्व के आधारभूत स्तर पर ही आद्य चरित्रों को प्रस्तुत करती है–पिता, मां, जर्जर वृद्धा जो परिवार से अनिश्चित संबंध रखती है, युवा लड़की, पुत्र, स्कूल शिक्षक सह किराना व्यापारी, इन सबको वे ऐसी ताजगी, उत्साह और अधिकार से प्रस्तुत करते हैं कि वे हमारे अनुभव के अविभाज्य अंग बन जाते हैं। प्रायः हर दृश्य स्मरणीय है–सर्वजया का वृद्ध औरत के साथ पहला वाक युद्ध, अपु का परिचय, बच्चों का रेलगाड़ी को देखना और मौत से उनकी पहली मुठभेड़ जब वृद्धा यकायक धप के साथ गिर पड़ती है, गांव का स्कूल, मिठाई बेचने वाला, रेलगाड़ी का आना, तालाब में कमल की पत्तियों का हवा से सरसराना, दुर्गा की मृत्यु की लंबी तूफानी रात, पिता की वापसी की सुबह जिसमें वह घर को तूफान से तहस-नहस और पुत्री को मृत पाता है, गांव से परिवार का पलायन। कोई भी दृश्य पहले देखा हुआ प्रतीत नहीं होता। अन्वेषण का एक निरंतर भाव बना रहता है जिसमें दर्शकगण निर्देशक के साथ भावनाओं की अंतरंग भागीदारी निभाते हैं।

फिल्म की पटकथा प्रत्येक घटना और चरित्र के प्रस्तुतीकरण को एक समस्या के रूप में देखती है जिसे वह ऐसा रास्ता तलाश कर सुलझाती है कि यह ताजा, असाधारण, परंपरा मुक्त बन जाती है।

ऊपर : *सीमाबद्ध* : राय, शर्मिला टैगोर और बरुण चंदा को निर्देशन देते हुए

नीचे : *सीमाबद्ध* : श्यामलेंदु (बरुण चंदा) अपनी साली (शर्मिला टैगोर) से सम्मान पाना चाहता है लेकिन वह उसकी जीवनचर्या को पसंद नहीं करती। श्यामलेंदु की पत्नी (प्रतिमा चौधरी), जो उसी समाज का हिस्सा है, देख रही है।

सीमाबद्ध : दो बहनें

ऊपर : *अशनि संकेत* : गांव में अकाल पड़ गया। ब्राह्मण पुजारी (सौमित्र चटर्जी) और उसकी सुंदर पत्नी (बबीता), जो सुख से जीने के आदी थे, अब कठिनाई झेल रहे हैं।

नीचे : *अशनि संकेत* : अकाल में कोई भी ब्राह्मण के बारे में नहीं सोच रहा था।

ऊपर : *अशनि संकेत* : पड़ोसी की पत्नी 'मध्या गय' थोड़े से चावल के लिए खुद को एक आदमी को सौंप देती है।

नीचे : *अशनि संकेत* : पुजारी की पत्नी के साथ बलात्कार होता है परन्तु इस घटना और औरतों द्वारा लिए गए बदले के बारे में कभी कोई नहीं जान पाता।

द इनर आई : कला भवन, विश्वभारती के एक शिक्षक बिनोद बिहारी मुखोपाध्याय, जो नेत्रहीन होने के बावजूद चित्रकारी करते थे, पर राय द्वारा तैयार किया गया वृत्तचित्र
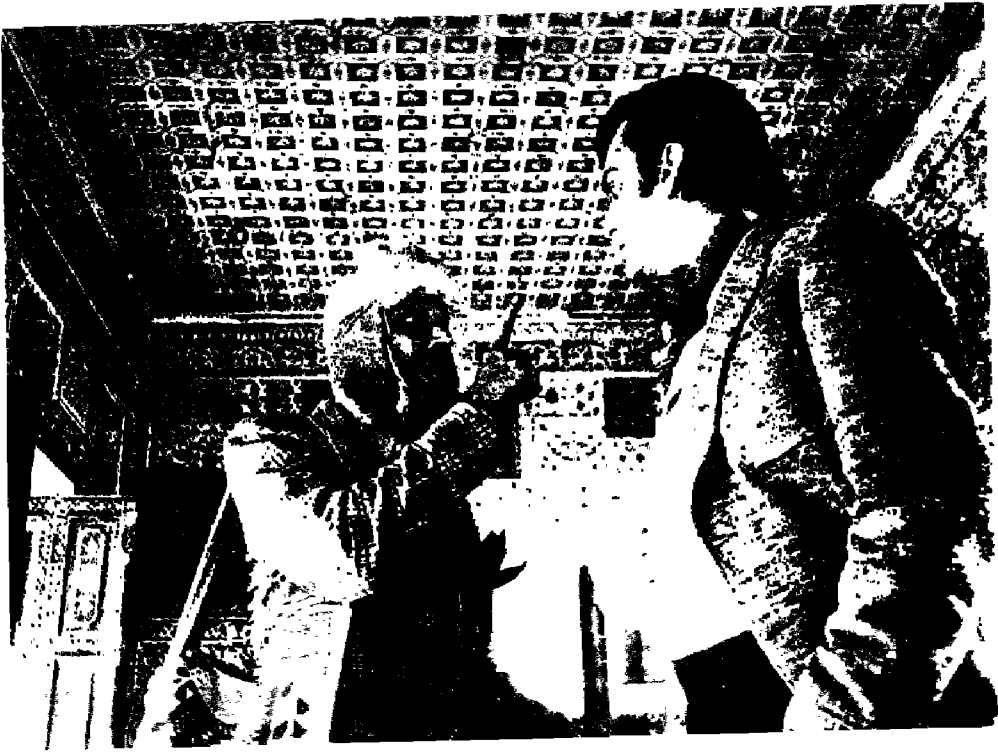
ऊपर : *सोनार केल्ला:* जासूस (सौमित्र चटर्जी) और अपराध लेखक (संतोष दत्ता) राजस्थान के एक महल में

नीचे : *सोना केल्ला* : जासूस, अपराध लेखक और एक लड़का, जिसे अपने पुनर्जन्म की याद है, खोज के लिए मरुस्थल पार करते हुए

ऊपर : *जन अरण्य* : सोमनाथ (प्रदीप मुखर्जी) अपने व्यवसायी चाचा (उत्पल दत्त, बायें) के साथ जो उसे व्यापार के क्षेत्र दिखा रहे हैं और उसे अपने कायदे कानून समझा रहे हैं।

नीचे : *जन अरण्य* : व्यापार विशेषज्ञ सोमनाथ को धंधे के पैंतरे समझाते हुए

ऊपर : *जन अरण्य* : सोमनाथ और उसका सलाहकार एक कॉल गर्ल (आरती भट्टाचार्य) को उसके एक ग्राहक को संतुष्ट करने के लिए तैयार करते हुए

नीचे : *जन अरण्य* : सोमनाथ अपने मित्र की बहन करुणा (सुदेष्णा दास) के साथ, उसे अपने ग्राहक के पास भेजने से ठीक पहले

ऊपर : *बाला* : मशहूर नृत्यांगना पर राय का वृत्तचित्र

नीचे : *शतरंज के खिलाड़ी* : अवध के नवाब मिर्ज़ा (संजीव कुमार, बायें) और मीर (सईद ज़ाफरी); जिनका शतरंज के खेल के अलावा अन्य बातों से कोई सरोकार नहीं है।

ऊपर : *शतरज के खिलाड़ी:* आकिल (फारुख शेख) नफीसा (फरीदा जलाल) के साथ
नीचे : *शतरंज के खिलाड़ी* : खुर्शीद (शबाना आज़मी); मिर्जा की बेगम

ऊपर : *शतरंज के खिलाड़ी* : अवध के नवाब, भारत के आखिरी स्वतंत्र शासक (अमजद खान); ने अपना ताज जनरल आट्रम (रिचर्ड एटनबर्ग) को समर्पित कर दिया

नीचे : *सिक्किम* : भारत में सम्मिलित होने से पूर्व इस राज्य पर तैयार वृत्तचित्र
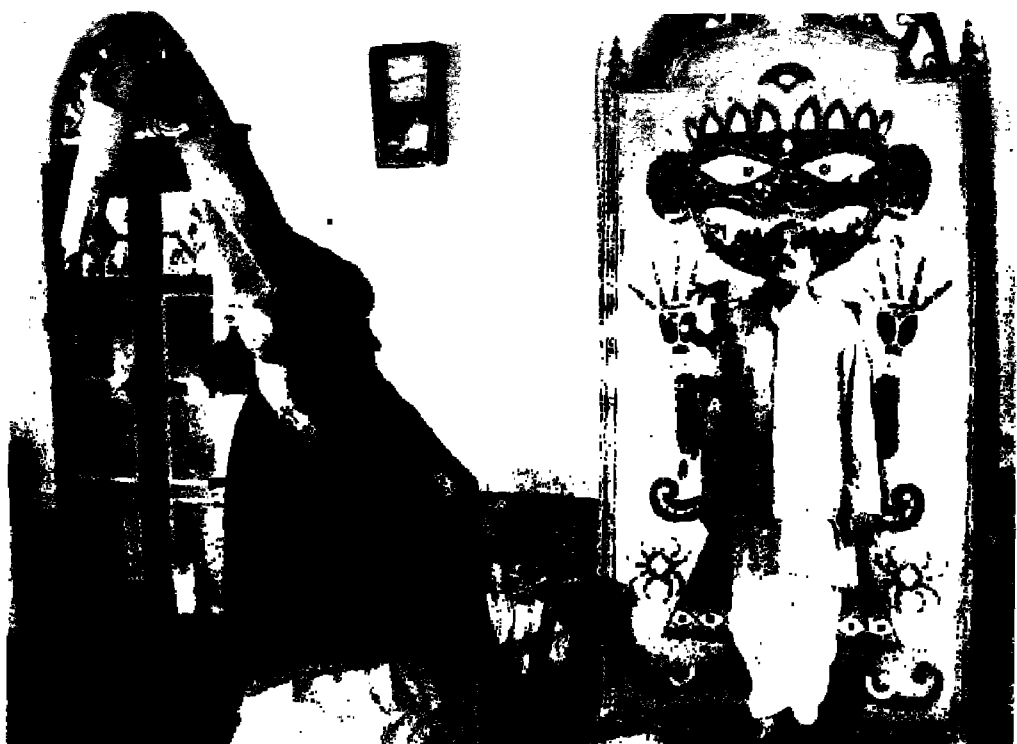
ऊपर : *जय बाबा फेलूनाथ* : जासूस फेलूदा (सौमित्र चटर्जी) और उसका दल योजना बनाते हुए

नीचे : *जय बाबा फेलूनाथ* : अपराध लेखक (संतोष दत्ता) खलनायक द्वारा किराये पर बुलाये गये अविश्वसनीय चाकू चलाने वाले (कनु मुखर्जी) के सामने खड़े हुए

ऊपर : *सद्गति* : दुखी की पत्नी ब्राह्मण के द्वार पर पति की मृत्योपरान्त

नीचे : *घरे बाहरे* : निखिलेश (विक्टर बनर्जी) अंग्रेज शिक्षिका कु. गिल्बी (जेनिफर कपूर) के साथ
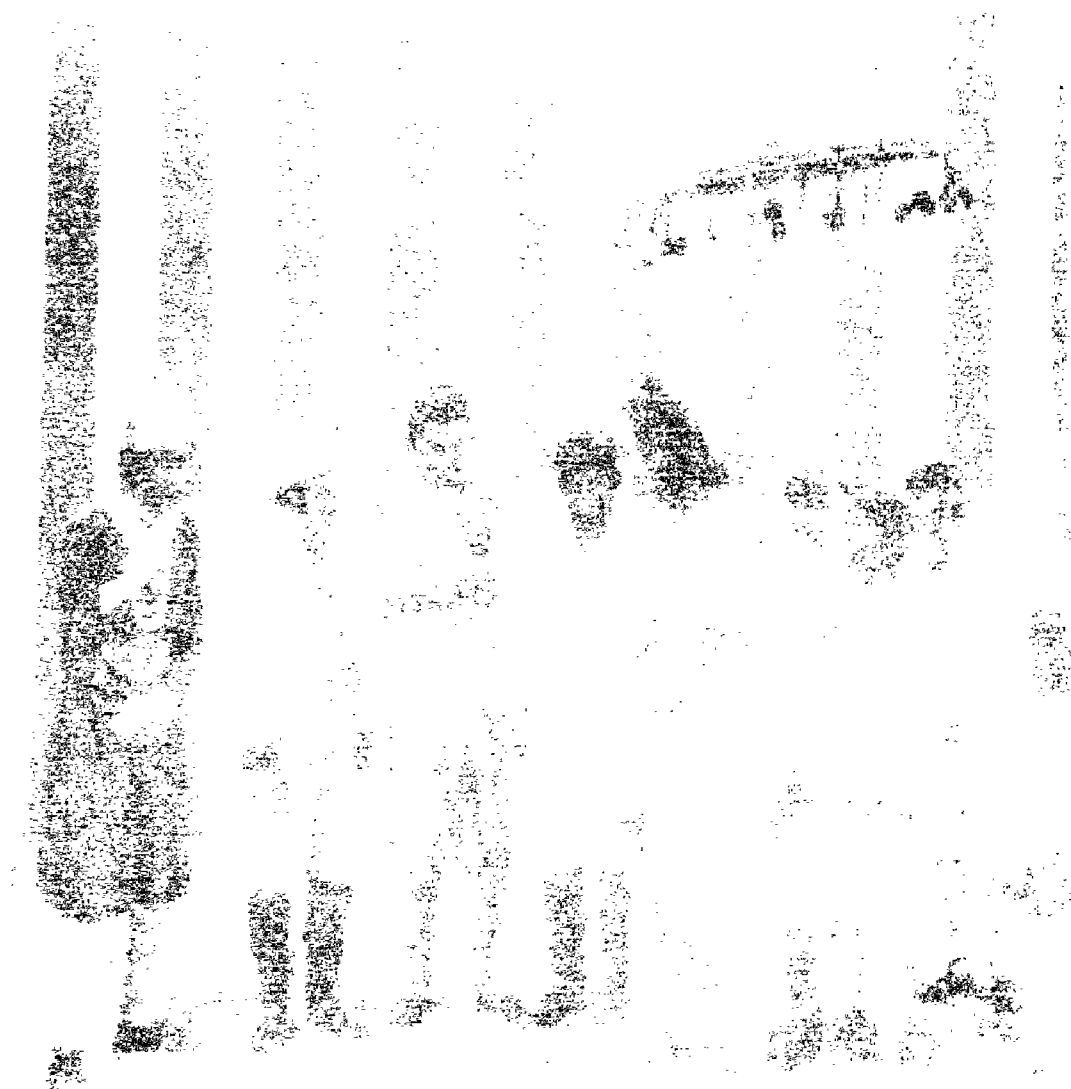
मुख्य कथावस्तु, बांसुरी पर बजाई जाती है और उस गीत से ली जाती है जिसे वृद्ध औरत जीवित रहने के अपने संघर्ष तथा मृत्यु की अपनी लंबी प्रतीक्षा के दौरान स्वयं अपने लिए गाती है। यह कथावस्तु एक ऐसे खुलेपन और ताजगी के साथ हृदय के तारों से जुड़ती है जो शायद सिनेमा के इतिहास में अद्वितीय है। गीत दिन की समाप्ति पर नदी के पार जाने वाले उस व्यक्ति से जुड़ा हुआ है जिसके पास नाविक को उतराई तक देने के लिए पैसे नहीं हैं प्रत्यक्षतः यह जिंदगी से मृत्यु की ओर जाने की पुकार है। जन्म और मृत्यु, प्रेम और पीड़ा, तुच्छता और प्रसन्नता ये सब दुर्वह गरीबी के बीच मन पर अमिट छाप छोड़ते हैं। इस तरह अत्यधिक भ्रामक सहजता से, जिसके पीछे केवल प्रेरणा की नहीं बल्कि निरंतर सिनेमाई अन्वेषण भी है "साधारण" असाधारण में बदल जाता है। दुर्विघ और विस्मय की छोटी छोटी कड़ियों की एक अदृश्य शृंखला विवरण दर विवरण बनती चली जाती है। *त्रयी* में मृत्यु की घटनाओं को इस कुशलता से नियोजित किया गया है कि प्रत्येक मृत्यु को नयी, निजी अनुभव की गहराई मिल जाती है, यह प्रक्रिया *पाथेर पांचाली* में इन्दर ठाकुरान की अविस्मरणीय मौत से शुरू होती है।

पाथेर पांचाली स्वतंत्र भारत में परिवर्तन के अग्रगामी अभिकर्ताओं यानी मध्यवर्गीय बुद्धजीवियों को यह बताती है कि दूसरे आधे लोग किस तरह की जिंदगी जीते हैं। फिल्म इसे इस तरह चित्रित करती है कि भूलना मुश्किल हो जाता है। देश पर शासन करने के लिए नियत अंग्रेजी पढ़े-लिखे शहर-केंद्रित लोगों के लिए मैकाले के भूरे अंग्रेजों द्वारा यह फिल्म भारत के पुनः अन्वेषण की अभिव्यक्ति थी। वे भूरे अंग्रेज जो विवेकानंद के उस आदेश को ध्यान में रखे हुए थे कि करोड़ों अशिक्षितों को न भूलें और गोरा के इस संदेश को ध्यान में रखे हुए थे कि सुधारकों को सबसे पहले उन लोगों के साथ अपनी पहचान कायम करनी चाहिए जिन्हें वे सुधारने की इच्छा रखते हों। प्रत्यक्षतः यह बात महात्मा गांधी की अपने लोगों के साथ पहचान बनाने की स्थिति के निकट थी। इस तरह इस फिल्म ने उस दौर के हृदय में महत्वपूर्ण झंकारें पैदा कीं और एक ऐसी क्षमता विकसित की जिसे बहुत लोगों ने इसके प्रति पूरी तरह सचेत हुए बिना ही इसे स्वीकार किया।

इसके बावजूद यह फिल्म पारंपरिक रूप से निर्धनतम लोगों के बारे में नहीं है। इसमें एक ऐतिहासिक प्रक्रिया अंतर्निहित है, इसमें दिखाई गयी निर्धनता बहस के केंद्र में बहुत आई है लेकिन यह याद करना मुश्किल है कि गरीबी को कभी इस रूप में दिखाया गया हो जिसमें समाज की प्राथमिकताओं के बदलने और उन लोगों के लिए जिन्हें जीवन पद्धति के बदलावों ने किनारे कर दिया है, वैकल्पिक विकास के अवसरों की कमी के परिणामस्वरूप गरीबी झेलनी पड़ी हो। अपु शहर जाकर और एक नये समाज की दीक्षा लेकर अपने आत्मपुनर्वास की प्रक्रिया शुरू करता है। इस तरह वह मात्र एक व्यक्ति होने से कहीं अधिक है। वह जैसा भी हो एक विशेष वर्ग का प्रतिनिधि है।

अपने आप में अवधारणा के अलावा *पाथेर पांचाली* के निर्माण में जो वस्तु उल्लेखनीय थी वह थी अवधारणा और इसके मूर्तरूप के बीच आने वाले लंबे अंतरालों के दौरान अपना दृष्टिकोण को यथावत बनाये रखने की राय की क्षमता। अंततः उनका अपराजय भाव लाभकारी हुआ, क्योंकि वे एक छोटी-सी ज्योति की तरह अपनी मनोछवि को उन सारे तूफानों से बचाये रखने में सफल हुए जो प्रतीक्षा के वर्षों तथा काम की अस्थिर प्रकृति के चलते लगातार थपेड़े देते रहे थे। सप्ताहांतों तथा अपने विज्ञापन कार्य से मिले अवकाश के दिनों में किया जाने वाला फिल्मांकन तथा मिलने वाले धन का इंतजार आदि इसी तूफान के हिस्से थे।

मूल साहित्यिक कृति से एक महत्वपूर्ण विचलन अपु और दुर्गा के उस रेलगाड़ी अनुभव में निहित है जो धुआं छोड़ती हुई उनके बगल से गुजरती है। उपन्यास में उन्होंने रेलगाड़ी कभी नहीं देखी। यहां रेलगाड़ी, जिसके बारे में बहुत कुछ कहा गया है गांव के बाहर की उस दुनिया की संकेतक है जिसकी खोज अपु बाद में करता है। उपन्यास से इतर राय द्वारा किये गये परिवर्तन इस तर्क को उचित बताते प्रतीत होते हैं। अन्यथा फिल्म में किये गये अन्य अधिकतर परिवर्तन संरचनागत हैं जो उपन्यास की असंबद्धता से अलग एक गुथी हुई कथावस्तु की आवश्यकता को पूरा करते हैं—विसर्पीय प्रवाह के भाव को नष्ट किये बिना।

पाथेर पांचाली का प्रभाव देखने पर हर बार इतना अधिक होता है कि इसकी कुछ कमियां नजरों से बच जाती हैं। फिल्म का आधा हिस्सा एक निरंतर कथाक्रम में फिल्माया गया था ताकि शेष फिल्म के लिए धन जुटाया जा सके। संयोजन कमोवेश स्थैतिक कला के संकेत लिए हुए है। फिल्म के दूसरे अर्धभाग में, जैसा कि राय स्वयं कहते हैं, उनका कैमरा स्थापन बेहतर नियोजित रहा है और चित्रात्मक प्रभाव को लेकर शायद ही कभी कोई तनावपूर्ण स्थिति बनी हो। एक अन्य कमी सितार पर (कैमरामैन सुब्रत मित्र द्वारा बजाया गया) शास्त्रीय संगीत का प्रयोग है जिसे अटपटी चुप्पी को तोड़ने के लिए बाद में जोड़ा गया था। यह संगीत रविशंकर द्वारा विकसित लोक आधारित धुनों के साथ एकतार नहीं हो पाता। यह भी कि दुर्गा की मृत्यु का क्रम भी जानबूझ कर तैयार किया हुआ और पूर्वाभास देता हुआ प्रतीत होता है और इस तरह यह शैलीगत रूप से शेष फिल्म से हटकर लगता है। लेकिन अत्यधिक प्रभावशाली दृश्यों की स्मरणीयता, हर शॉट का दोषरहित समय संयोजन तथा आधिकारिक और अपरिहार्य का वह भाव जो सिनेमा में हमारी आंखों के आगे वास्तव में कुछ घटने की अनुभूति कराता है, के आगे कमियां गौण हो जाती हैं। यह बात और भी अधिक उल्लेखनीय इसलिए है क्योंकि फिल्म में जो घटनाएं घटती हैं वे साधारण चक्रीय और शाश्वत हैं। ये सब हमारे अस्तित्व के परिचित और अपरिहार्य तत्व हैं। जो अन्य परिवारों में माताओं, पिताओं, बुआ और बच्चों के जीवन में, यदि हम

उन्हें निकटता से देखें, तो भी उभरते हैं।

अपराजितो (1956) में अपनी पूर्ववर्ती फिल्म के तात्विक गुण नहीं हैं, न इसकी संरचना इसे वैसी ही संतोषकारी पूर्ण कृति बना पाती है। यह फिल्म अपेक्षाकृत तीन भागों में बंट जाती है बनारस, गांव और कलकत्ता। फिर भी व्यक्तियों और क्षणों की चाक्षुषता इसमें श्रेष्ठ है। इसका अपेक्षाकृत कम भावपूर्ण अवलोकन उस सुरक्षात्मक आवरण को दर्शाता है जो विकसित होने के लिए अपु को अपनाना है। सर्वजया का दुख उतना ही अपरिहार्य है जितनी कि उसके बेटे की उदासीनता, उसे जीवन के कठोर विधानों का पालन करना है और जाना है, पतझड़ में एक वृक्ष से गिरी पत्ती की तरह। माता-पिता के अवसान और शरीर आत्मा से अस्तित्व बनाये रखने की अपु की यातना की वह सब कुछ है जो *अपराजितो* क्रियात्मकता के माध्यम से दिखाती है। तथापि अपु के भावनात्मक विकास की अत्यधिक सुस्पष्टता हमें भाव विगलित कर देती है। बनारस के घाटों की चक्रीय पुनरावृत्ति, नदी किनारे हरिहर का पढ़ना और ढलवां सीढ़ियों पर चढ़ना, बंदर मंदिर में अपु का बार बार जाना और ईश्वरीय अंश के रूप में पूज्य विचारहीन वानरों द्वारा बेतहाशा घंटनाद भारत के प्राचीनतम शहर में पारंपरिक धर्म को इस तरह जीवंत बना देते हैं जैसा कि शायद अब तक किसी भी दूसरी फिल्म में नहीं किया गया है।

अभिव्यक्ति की सुसंक्षिप्तता दो घंटे की फिल्म से एक महाकाव्य रच देती है। हरिहर की मृत्यु के बाद सर्वजया और अपु भी दयालु स्वामियों के लिए सेवक के रूप में काम करते हैं। सर्वजया को एक संबंधी के पास जाकर रहने का प्रस्ताव मिलता है जिसे वह स्वीकार नहीं करती। अपने स्वामी के घर में सीढ़ियों से नीचे उतरकर सर्वजया अपने बेटे को, दूर से, स्वामी के हुक्के की चिलम को सुलगाते हुए देखती है। वह ठहर जाती है—अपने बच्चे के भविष्य की कल्पना से आहत। रेलगाड़ी की आवाज उसके चेहरे को ढांप लेती है। दृश्य नदी के ऊपर पुल पर प्रवेश करती रेलगाड़ी में बदल जाता है। वे मानस कोटा गांव जा रहे हैं जहां अपु अपने मामा के घर में अध्ययन कर सकता है और बेहतर जीवन बना सकता है।

संगीत : *पाथेर पांचाली* की विषयवस्तु

संरचनात्मक रूप से *अपराजितो* मुख्यतः *पाथेर पांचाली* और *अपुर संसार* के बीच पुल के रूप में अर्थपूर्ण है। स्वयं अपने आप में यह पर्याप्त संतुलित नहीं है, बनारस जीवंत हो उठता है लेकिन कलकत्ता नहीं होता। इस भाग की शुरुआत में बड़ी उम्मीद जागती है जो पूरी नहीं होती। सबसे महत्वपूर्ण अध्याय बाहरी दुनिया की ओर आकर्षित होते किशोर बेटे और उसके बचपन को अपरिवर्तित रूप में देखती मां के बीच रिश्ते का है जो जटिल, अनाभिव्यक्त *आडीपल* तनाव की ध्वनियों से भरपूर है, जिन्हें सभी पुरुषों को अपने विकास

के साथ पार करना पड़ता है। अपु की मुक्ति शायद उसकी मां की मृत्यु की तीक्ष्णता से अधिक महत्वपूर्ण है।

एक तरह से भावभूमि की दृष्टि से *अपराजितो* विभूति भूषण के अधिक नजदीक है। इसकी असंबद्धता और आवृत्ति-पूर्ण आकर्षण राय की कृतियों में आगे नहीं मिलता। यह एकमात्र फिल्म है जिसमें राय स्वयं फिल्म के आंतरिक तत्वों को और पूर्व फिल्म *पाथेर पांचाली* के तत्वों को पुनरावृत्त करते हैं। पुनरावृत्तियां ही बनारस के जीवन की लय का निर्माण करती हैं और हरिहर की मृत्यु को जीवन प्रवाह के एक अंग के बतौर अंकित कराती हैं। जैसे कि इसके पूर्व हुई हजारों मौतें उन परिजनों के लिए जो व्यक्ति को खो देते हैं महत्वपूर्ण हैं लेकिन विराट जीवनचक्र में वे महत्वहीन हैं। जब हरिहर का मृत्यु क्षण नजदीक आता है अपु परिचित सीढ़ियों से उतर कर पानी लेने जाता है, घर में जाती उसी गली को देखता है। पुनः, जब गाड़ी सुबह के समय बंगाल में प्रवेश करती है तो भू-दृश्य में तत्काल परिवर्तन आ जाता है और ध्वनि ट्रैक पर *पाथेर पांचाली* का मूल संगीत बजने लगता है। मानस कोटा के जीवन के पूर्व फिल्म के बहुत से आह्वान दिखाई देते हैं। फिल्म मुख्य घटना को एक अनावश्यक विस्तार से जोड़ती है जो इसे एक बड़े प्रवाह का हिस्सा बना देती है। जैसे ही हरिहर का अंत निकट आता है नंदा बाबू के चमकदार काले जूते सीढ़ियों से उतरते हुए क्लोजअप में आते हैं और वह सर्वजया को फुसलाने की कोशिश करता है, वह रसोई का चाकू लेकर उस पर झपटती है। अगले दृश्य में हरिहर हांफता दिखाई देता है उसकी तत्काल मृत्यु जीवन की कठोर अविचलित प्रक्रिया का अंग है जिसकी मंदिर के पुरोहित आरतियों, घंटियों के उग्र स्वर और भजन गायन के साथ आराधना कर रहे हैं। सर्वजया का चेहरा आशंका से कसा हुआ है। दृश्यबंध बनारस की शाम में ढल जाता है, काले बादल ऊपर गहराते दिखाई देते हैं, रोशनी की लकीर क्षितिज को रेखांकित करती है। इस प्रकार के सन्निधान राय की कृतियों में दुबारा दिखाई नहीं देते। अपनी दार्शनिक गहराई और भावनात्मक प्रत्यक्षता में *अपराजितो* राय की फिल्मों में असाधारण है, खासतौर पर बनारस के दृश्यों में।

स्टेनले काफमैन ने जिसे असंबद्ध औपन्यासिक वस्तु माना था वही इसका सर्वाधिक भारतीय तत्व है। भारतीय संगीत में राय ने बाद में यह जाना कि अवधि लचीली होती है और संगीतज्ञ की मनःस्थिति पर निर्भर करती है लेकिन पश्चिमी संगीत रचना समय से बंधी होती है।

तथ्य यह है कि राय की बाद की फिल्में पश्चिमी संगीत संरचनाओं के अपरिवर्तनीय समय विधान से अधिक जुड़ी हैं। ये संरचनाएं स्थिर रूपाकारों में हैं, जैसे कि "डेज एंड नाइट इन द फारेस्ट"। *अपराजितो* का प्रवाह जैसा कि स्वयं *त्रयी* का भी है, भारतीय संगीत जैसा ही अधिक है—पुनरावृत्ति पूर्ण और मनःस्थिति से नियंत्रित।

अपुर संसार (1959) राय के संरचनात्मक दृढ़ता के गुण की ओर वापस मुड़ती है और *अपराजितो* की दृष्टिकोण की शुद्धता को जारी रखती है और उससे आगे भी पहुंचती है। फिल्म एक ऐसे दृढ़ प्राकृतिक तर्क के साथ आगे बढ़ती है जो इसके काव्य को पूरी तरह औचित्यपूर्ण ठहराता है, स्वयं घटनाओं में से उभरता हुआ जैसा कि वह है न कि घटनाओं के ऊपर फिल्म निर्माता द्वारा थोपा हुआ। अपु और अपर्णा का संबंध सिनेमा और सभी कलाओं में प्रेम के सर्वाधिक पूर्ण चित्रणों में से एक है। सिनेमा से वापस लौटते हुए गाड़ी वाले दृश्य में जब माचिस की तीली की चमक में अपर्णा का चेहरा चमकता है तो क्षणभंगुरता का अकथनीय भाव पैदा होता है। अपु इसे देखता है और कहता है, "तुम्हें मालूम है कि मैं अपने लेखन से कितना प्यार करता हूं, मैं तुम्हें उससे भी अधिक प्यार करता हूं।" जिस तरह से अपर्णा के चेहरे पर चमक आती है, उसकी आंखों में जैसी दीप्ति दिखाई देती है और जिस तरह से अपु शब्द बोलता है, धीमे धीमे पूर्णतः अंतर्मुख होकर, तो ऐसा लगता है मानो अपने यौवन के प्रारंभ में दोनों प्रेमियों ने जीवन की नश्वरता के बारे में सब कुछ जान लिया है और इसीलिए प्रेम की नश्वरता के बारे में भी। वास्तव में प्रारंभ से ही अपर्णा का नश्वर सौंदर्य अपने आप में अनंत उदासी का स्पर्श लिये हुए है, मानो इसमें कहीं न कहीं मृत्यु बोध की छाया समाई हुई हो। (राय का शनैः शनैः घटनाओं को आगे बढ़ाना, बाह्य और आंतरिक, एक दूसरे के साथ पूरी तरह गुंफित, फिल्म को, विशेष रूप से पूर्वार्द्ध में अपरिहार्यता का भाव प्रदान करता है। यह कहानी का उत्कृष्ट रूप रेखा के अनुकूल है। अपु का एक छात्र के रूप में सामान्य और एकाकी जीवन, संयोगवश उसका विवाह, उसका प्रेम, अपर्णा की मृत्यु पर उसका विह्वलता का भाव, अपने पुत्र के बारे में उसका चैतन्य होना और पुत्र को पुनः प्राप्त करना, रॉबिन वुड के इस फिल्म के *(अपु त्रयी)* के उच्च स्तरीय बोधपूर्ण विश्लेषण में वह अपु द्वारा अपनी पांडुलिपि के पृष्ठों को उछाल फेंकने के बिंदु को चूक जाता है। शायद इसलिए क्योंकि यह गाड़ी में हुए संवादों, जिसका कि ऊपर उल्लेख किया है, दिशा से बहुत अधिक बंधा हुआ है। अपु संन्यासी हो जाता है, जीवन के प्रति उसने सारे मोह छोड़ दिये हैं और वह अपने उपन्यास की और जरूरत महसूस नहीं करता है। उसका अत्यधिक यथार्थवादी मित्र पुलू उपन्यास की बहुत प्रशंसा कर चुका था लेकिन अपनी उस अपर्णा के बिना जिसे वह लेखन से भी अधिक प्यार करता था, इस उपन्यास का क्या करे।)

अपु और अपर्णा के जैसी अतीत में सैकड़ों शादियों के होने की जानकारी मिलती है। कुछ की स्मृति पुरानी पीढ़ी के बुजुर्गों के पास है, जिन्हें साहित्य में भी स्थान मिला है। किसी सवर्ण हिंदू लड़की का विवाह एक शुभ मुहूर्त में तय हो जाने के बाद भी यदि नहीं हो सका तो उसे जीवन भर अपने परिवार के साथ सामाजिक नफरत के बीच जीना पड़ता था। उस काल में परंपरा की शक्ति इतनी ज्यादा थी कि लड़की के परिवार के लिए

यह जीवन और मृत्यु का मसला हो जाता था। अपनी पश्चिमी शिक्षा के कारण अपु ने इस "अंधेरे युग" का प्रतिवाद किया। लेकिन जैसे ही वास्तविक क्षण आया पारंपरिक कर्तव्यबोध उसकी संतप्त चेतना पर हावी हो जाता है। इसके अलावा यदि उसके माता-पिता जीवित रहते तो शायद अपु को अपनी स्वयं की मर्जी के विरुद्ध उनकी इच्छा से शादी करनी पड़ती। शादी के मामले में उसकी अपनी पसंद का सवाल उस समय बंगाल के हिंदू समाज में मुश्किल से उठना शुरू हुआ था। जहां तक अपर्णा का सवाल था, हिंदू लड़कियां बचपन से ही भगवान शिव की पूजा करती थीं और प्रार्थना करती थीं कि उन्हें उनके जैसा वर मिले, सुंदर, आदर्श और शक्तिशाली, यद्यपि शिव एक प्रकार के अलमस्त यायावर थे, बैल की सवारी करते थे और भूत-प्रेतों को साथ रखते थे। जिससे भी वह शादी करती, एक ऐसी घटना में जिसमें उसकी स्वतंत्र इच्छा की नहीं बल्कि संयोग की ही भूमिका होती थी, उसका भगवान शिव हो जाता था। पत्नी का आदर्श दायित्व धरती के किसी भी छोर तक पति का अनुसरण करना ही था, भले ही उसकी परिस्थितियां कैसी भी क्यों न हों। अपने घर की समृद्धि को छोड़कर जाने और अपु के साथ उसकी अटारी में रहने का अपर्णा का व्यवहार इस तरह अप्राकृतिक नहीं था।

यदि विवाह पूर्व का अपु का लापरवाह बांसुरी वादन नदी किनारे बांसुरी बजाते कृष्ण की ओर संकेत करता है तो अपर्णा की मृत्यु के बाद उसकी दीर्घ शोकाकुल व्यग्रता शिव के उस रूप की स्मृति कराती है जिसमें वे अपनी पत्नी की मृत देह को कंधे पर लादे एक स्थान से दूसरे स्थान भटकते हैं, रचना और विनाश के जीवन-चक्र को चलाये रखने के अपने ईश्वरीय कर्तव्यों की उपेक्षा करते हैं। दूसरे देवतागण जो ब्रह्मांड की व्यवस्था पर आये खतरे को लेकर चिंतित होते हैं, सती के शव को कई हिस्सों में खंडित कर देते हैं और जहां भी यह शव खंड गिरा वह स्थान एक तीर्थस्थल बन गया। जब शिव ने देखा कि सती अब नहीं हैं तो शिव अनिच्छा से अपने कर्तव्यों की ओर लौट आये। जब अपु अपने उपन्यास को फाड़ देता है, अपर्णा के लिए सब कुछ त्याग देने का उसका महान कार्य, तो उसका मित्र उसे जीवन की ओर वापस लौटने और अपने पुत्र को फिर से अपनाने के लिए मनाता है। वह पुत्र जिसके भविष्य को लेकर उसे जिम्मेदार होना चाहिए। एक दृश्य में जो बाल मन की अप्रतिम समझ से दीप्त है, अपु जो ऐसे व्यवहार करता है जैसे कि वह स्वयं एक बच्चा हो और दूसरे बच्चे के साथ खेल रहा हो, अंततः अपना आत्म-विश्वास फिर प्राप्त करता है और नदी के किनारे किनारे चल देता है, काजल उसके कंधों पर बैठा हुआ है। अवस्थान (लोकेशन) का चुनाव अपने आप में दार्शनिक तत्व लिये हुए है, जीवन के अंतहीन ज्वारभाटे का संकेत देता हुआ जीवन जिसे, चाहे जिस रूप में भी चलते रहना है। संयोग विवाहोपरांत पूर्ण प्रेम की प्रतीति कराता है, शायद प्रसन्नता के अपरिहार्य रूप से एक छोटे अंतराल के लिए। फिर यथार्थ इसे समाप्त कर देता है (प्रसव

के दौरान औरतों की मृत्यु उन दिनों एक सामान्य बात थी) और दुख को अंततः कर्तव्य के लिए रास्ता बनाना ही पड़ता है।

अपुर संसार अपने आंतरिक भावनात्मक आवेश की प्रकृति की दृष्टि से राय की बहुत ही व्यक्तिगत फिल्म है। इसमें गहराई और ताजगी से महसूस की गई उस भारतीयता का समावेश है जो एक प्रकार की निजी पुनः अन्वेषण में परंपरा की आद्य रूपों की ओर वापस लौटती है। जिन प्राचीन मूल्यों को यह आत्मसात किये हुए है उनके प्रति बिना किसी चैतन्यता के यह ऊष्मा और करुणा से भरी हुई है। निर्देशक चरित्रों के साथ एकरूप हो जाता है कि वह उनके माध्यम से पारंपरिक वास्तविकताओं के हृदय में उतर जाता है और उन्हें जीवन के महान, अंतहीन प्रक्रिया के अंग के रूप में देखता है। तुलनात्मक ढंग से देखें तो *चारुलता* की दोषरहित परिपूर्णता अपने संयम में भारतीय है और चरित्रों के साथ स्पष्ट और खुली पहचान बनाने का निजी भाव भी उसमें कम है।

5

प्रथम दस वर्षों में से शेष वर्ष

पाथेर पांचाली तीनों फिल्मों में से सर्वाधिक मुखर और सार्वभौम रूप से आकर्षक है, लेकिन *अपुर संसार* अपनी अधिक निजी, रूमानी लेकिन नियंत्रित भावना, अपनी दोषरहित संरचना और कुशल शिल्प के कारण *त्रयी* में उत्कृष्टतम बन पड़ी है। इसलिए आश्चर्य नहीं होना चाहिए, क्योंकि *अपराजितो* के बाद राय ने *त्रयी* के तीसरे खंड के निर्माण से पूर्व *पारस पत्थर* और *जलसा घर* नाम की दो फिल्में बनाईं, जिन्होंने उनके शिल्प को काफी निखारा था।

अपनी पूरी कॉमेडी के साथ *पारस पत्थर* तत्कालीन शहरी जीवन में राय की पहली दखलंदाजी है। क्लर्क परेश बाबू की उनकी समझ इतनी पूर्ण और साहित्यिक रूढ़ चरित्रों में से इतनी पूर्णता के साथ बनी है जितनी कि *त्रयी* के चरित्रों के बारे में। लेकिन वह इतना वैयक्तिक नहीं है जितना कि *त्रयी* के पात्र। कहानी बहुत ही सामान्य और पुरानी है, लेकिन यह अधिकांश क्षेत्रीय कहानियों की तरह ही सामान्य होने से इंकार कर देती है। इसे बंगाली दर्शकों की दृष्टि में रखकर बुना गया है और इसकी अवधारणा अपेक्षाकृत कम सार्वभौम धरातल पर की गयी है। *त्रयी* या *जलसा घर* के विपरीत इसमें इस काल की राय की अन्य फिल्मों की तुलना में बोले हुए शब्द अधिक महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। इसके अपवादों में एक उससे सुंदर पैबंद में निहित है जो अभिव्यक्ति में अन्य को धुंधला कर देता है—टैक्सी की सवारी और लोह-लंगड़ के गोदाम से गुजरना। तुलसी चक्रवर्ती के चेहरे का भाव—स्तब्ध-वीरान, कारुणिक, उन वायलिन की ध्वनियों से पूरी तरह मेल खाता है जो विशाल लोहे के ढांचों को देखकर गरीब क्लर्क के हृदय में हजारों मधुमक्खियों के एक साथ गाने की तरह ध्वनित होती है। क्लर्क को महसूस होता है कि उसकी जेब में पड़े पत्थर का एक स्पर्श सारे लोहे को सोने में बदल देगा। जैसे ही लोह-लंगड़ गोदाम में 19वीं शताब्दी के तोप के गोले लोहे की चादरों से टकराते हैं हम यकायक उस स्वप्न से जाग जाते हैं जो हम सबके अंदर गुपचुप बना रहता है—उस लाटरी टिकट का स्वप्न जो लाभ देता है।

हम अपने आप को पात्र के साथ एकरूप नहीं करते, यह किसी और का सच होता

हुआ स्वप्न है, फिर भी हम इसे उसके साथ बांटते हैं, अफसोस के इस भाव के बिना नहीं कि यह स्वप्न हमारा अपना नहीं है। क्लर्क से लखपति हुआ व्यक्ति एक अकेला आदमी है।)

हमारे ध्यान को अधेड़ दंपत्ति पर जो पूरी कथा का केंद्र है, रखने की चिंता में वे प्रेम और यौवन की उपकथा को एक एकपक्षीय टेलीफोन वार्ता में ही चुकता कर देते हैं। लंबी फोन वार्ताएं भंगुर चतुराई के साथ दर्शायी गयी हैं जो प्रेमकथा को उसके भावनात्मक मूल्य से वंचित कर देती हैं और उसे मात्र खबर में बदल देती हैं। परिणामतः एक खास किस्म का तनाव पैदा हो जाता है जिसके आगे काली बनर्जी जैसा सक्षम अभिनेता भी कुछ कुछ असहाय दिखता है।

वास्तव में इस बिंदु से फिल्म अपना बहुत कुछ उत्साह खो देती है और आगे यदाकदा दृश्यों में ही जीवंत होती है, जैसे कि रानी बाला के गीत के साथ खुलता हुआ शयनकक्ष दृश्य, कॉकटेल पार्टी के बाद की सुबह, सूर्योदय के समय निर्जन सड़क पर दौड़ती गाड़ी और पुलिस थाने का दृश्य। ये दृश्य उस शुरुआती दृश्य के स्तर पर ही हैं जो शहर के वाणिज्यिक केंद्र को दयनीय क्लर्क की दृष्टि से बहुत ही विविधता के साथ दिखाता है। बरसात का दृश्य, चिड़चिड़ी पत्नी द्वारा शासित नीम अंधेरे घर में थके पांव वापस लौटने का दृश्य—यहां राय अपने मूल तत्व के साथ उपस्थित हैं। दो सर्वाधिक कठिन दृश्य, पहला जिसमें कि पारस पत्थर को लाया जाता है, और दूसरा जिसमें क्लर्क की हंसी सिसकियों में बदल जाती है, जब वह पत्थर के प्रभाव के बारे में जान लेता है, असाधारण सहजता के साथ प्रस्तुत किये गये हैं।

इनके विपरीत प्रेम प्रसंग अपेक्षाकृत प्रभावहीन जाता है : कॉकटेल पार्टी जिसमें बंगाली सिनेमा की हस्तियां मौजूद हैं और जिसे लगभग बिना किसी तैयारी के अभिनीत किया गया है, अपनी भव्य संभावना पर खरा नहीं उतरता।)"स्वर्ण मान की गिरावट" दृश्य गठजोड़ लगते हैं। पुलिस चिकित्सक जो विज्ञान के प्रति अपने आवेश के चलते मामले के वित्तीय पहलुओं से अनभिज्ञ हैं, उन चमकते रत्नों में से एक है जो अपनी चमक द्वारा राय की फिल्मों को ऊष्मामय आभा से भर देते हैं। चरित्र के प्रति राय का लगाव स्पष्ट है उसी प्रकार पुलिस स्टेशन वाले दृश्य में पुलिस वाले के असंतोष के अवलोकन में उनकी दृष्टि पैनी और पुर मजाक है। पुलिस वाला जो भला व्यक्ति है इसके बावजूद उसका सोच है कि "भद्दी पत्नी वाला यह मूर्ख मोटा बुड्ढा बैंक क्लर्क धन बनाने वाला पारस पत्थर पा गया है।" परिवार का नौकर बहुत ही साधारण व्यक्ति है जिसकी कुटिल कमियां अचानक सामने आती हैं। राय इनके आगे उस समय होते हैं जब वे व्यंग्यमय हास्य से प्रहसन की ओर आने की कोशिश करते हैं। तथापि किसी को भी वह दृश्य हमेशा याद रहेगा जिसमें क्लर्क दंपत्ति को पुलिस थाने में लंबी प्रतीक्षा करनी पड़ती है, जब क्लर्क अपनी महत्वाकांक्षा

की तुच्छ सीमाओं के बारे में बताता है और अपनी जरूरतों के अंत पर ठहरने की अपनी दयनीय, असंभव इच्छा के बारे में बताता है, और अपने घुटनों को दिखाता है जो भीड़ भरी बस में से उतरते समय गिरने से घायल हो गये हैं। यहां संवाद असाधारण मार्मिकता तक पहुंचते हैं। और अंत में जिस समय सोना फिर से लोहे में बदलता है तो फिल्म क्लर्क पत्नी की लुभावनी मुस्कान से आलोकित हो उठती है। यह दृश्य वृद्ध दंपत्ति में वास्तविक लालच की अनुपस्थिति और उनकी सादगी पर बहुत ही खूबसूरत टिप्पणी है। राय का सार तत्व यही है, मानवीय दुर्बलताओं के उत्साहपूर्ण और आत्मीय अवलोकन के माध्यम से अपनी मूल्य दृष्टि को अभिव्यक्त करना।

जलसा घर (1958), वास्तविक मार्मिकता का खूबसूरत आह्वान। फिल्म दोनों ही काम करती है, उनकी क्षमताओं का विकास करती है और उन्हें उनकी पहली दो फिल्मों के नव यथार्थवादी दायरों से बाहर भी ले जाती है। *जलसा घर* यथार्थ परक मुख्यतः लोकेशन शाट वाली तथा गैर पेशेवरों द्वारा अभिनीत फिल्म है। *जलसा घर* में उन्होंने स्टूडियो के परिवेश को अधिक महत्व दिया और बंगाली सिनेमा की एक बड़ी हस्ती छवि विश्वास को निर्देशित किया। यहां वे विश्रांति और नव यथार्थवाद की मान्यताओं को छोड़कर वैयक्तिक चरित्र और परिस्थिति के प्रति उनके सम्मोहन के अधिक निकट आये। विश्वंभर राय की छवि छज्जे के पहले ही दृश्य में निर्मित की गई है जहां वह कैमरे की ओर पीठ किये हुए बैठते हैं, और गोधूलि के समय, उनका नौकर उनके हुक्के की नाल उनके हाथ में देता है और वह पूछते हैं "अनंत यह कौन-सा महीना है?" राय बहुत ही नाटकीय क्षमता वाली कहानी उठाते हैं और निरंतर नाटक, गीत और नृत्य तत्वों को अभिनीत कराते जाते हैं। यहां ज्यां रेनेवां द्वारा लिखित पुस्तक "रेनेवां मेरे पिता (रेनेवां माई फादर) में आगस्त रेनवां के वक्तव्य की स्मृति हो आती है--

> किसी नायक का उस समय चित्रण जब वह शत्रु को चुनौती दे रहा हो या एक औरत का चित्रण जबकि वह प्रसव की तीव्रतम वेदना में हो, महान चित्र कृति के लिए उचित विषय नहीं है, जबकि स्त्री और पुरुष जो ऐसी कठिन परीक्षाओं से गुजर चुके हैं उस समय महान विषय हो जाते हैं जब बाद में कलाकार उन्हें विश्रांति में चित्रित कर सकता हो। कलाकार का काम यह नहीं है कि वह मानवीय अस्तित्व में इस या उस क्षण पर जोर दे बल्कि यह है कि वह मनुष्य को उसके समूचेपन में बोधगम्य बनाये।

जो लोग सिनेमा को केवल गति (एक्शन) का संवाहक मानते हैं उन्हें चित्रण की यह अवधारणा पूरी तरह प्रतिस्थापना लगेगी। सिनेमा वही दिखाता है जो कैमरे ने छायांकित किया है--वास्तविकता की सतहें। इसलिए लोकप्रिय तरीका यह है कि सिनेमा को गतिशील माध्यम मानकर व्यवहृत किया जाय। लेकिन इसी वजह से सतह के पीछे क्या है इसे

अभिव्यक्त करना सिनेमा की सर्वाधिक महत्वपूर्ण चुनौती है और जब यह चुनौती सफल होती है तभी इसका कला होने का दावा बनता है। राय के लिए सिनेमा यूनानी थियेटर की तरह है जिसमें क्रिया (एक्शन) पर्दे से अलग होती है जबकि पर्दे पर हम उस क्रिया की प्रतिक्रिया (रिएक्शन) देखते हैं। राय ने क्रियात्मक दृश्यों के प्रत्यक्ष चित्रण में शायद ही कभी सहजता महसूस की हो। *जलसा घर* में न केवल डूबती हुई नाव को दिखाया गया है बल्कि अलमारी में उल्टा रखा नाव का प्रतिरूप, जमींदार के जाम में छटपटाता हुआ कीड़ा, घर लाया जाता हुआ लड़के का शव जैसे दुर्घटना के संकेत अटपटे ढंग से उपलब्ध किये गये हैं। जो बहुत ही प्रभावी बन पड़ा है वह है महफिल में विश्वंभर राय का गद्दों पर लेटना या चांदनी में बरामदे में बैठना या कंदील के नीचे लगे शीशे में स्वयं को देखना, अपने सफेद घोड़े पर मृत्यु की ओर सवारी करना। विलक्षण बात है कि संगीत और नृत्य के दृश्य भी भली प्रकार संपन्न नहीं होते। बेगम अख्तर के गीत की कशिश तभी महसूस होती है जब उसे पर्दे से हटकर सुना जाय। वे संपूर्ण दृश्य का अंश कभी नहीं बनतीं। रोशन कुमारी के कथक का, जैसा कि राय की मृत्यु प्रस्तुतियों में होता है, अवलोकन एक निश्चित फासले से होता है (एक ऐसी तकनीक जो *शतरंज के खिलाड़ी* को छोड़कर कहीं कारगर नहीं होती।) परिणामतः उनका व्यक्तित्व भी बेगम अख्तर के व्यक्तित्व से कोई अधिक ज्यादा नहीं उभरता, और ऐसे चरित्रों का जमींदारी वातावरण से जटिल पारंपरिक रिश्ता पूरी तरह अस्पष्ट रह जाता है। ताराशंकर बंद्योपाध्याय की कहानी में गायिका जमींदार की रखैल है, राय इसमें से प्रेम रुचि को निकाल देते हैं और इस तरह वे शायद कहानी की जटिलता में से कुछ की बलि दे देते हैं। जो वह पाते हैं वह तल्लीन कर देने वाले चित्रण में है, एक भव्य सम्मोहन। कलकत्ता के प्राचीनतम और सर्वाधिक जर्जर स्टूडियो में काम करते हुए वे महराबदार विराट कक्ष में काल प्रभाव और कुलीन वर्ग की पतनशील भव्यता की रचना करते हैं। महराबदार कक्ष में उनके पूर्वजों के चित्र टंगे हुए हैं और संगीत कक्ष के मध्य में कंदील लटका हुआ है जिसका प्रयोग वे पहले शीर्षकों में और बाद में एक प्रतीक के रूप में यानी मनुष्य की मनःस्थिति की पूंजी के रूप में करते हैं। इस फिल्म में मनःस्थिति और वातावरण पर अधिकार अपने चरम पर दिखाई देता है। जो उनकी किसी भी अन्य कृति में इतने सुसंगत ढंग से नहीं आया।

जिसे लेकर कभी कोई संदेह नहीं रहा वह है परिवर्तन की अपरिहार्यता और उसकी दिशा। सत्ता विशिष्ट मार्क्सवादी तरीके से, सामंत जमींदार से उभरते पूंजीपति की ओर फिसलती है लेकिन राय के लिए, यह परिवर्तन है जिसकी हमारे द्वारा व्याख्या की जानी है, तरक्की नहीं, जिसकी घोषणा उनके द्वारा की जानी है। पुरानी व्यवस्था के गुजरने का दर्द नयी व्यवस्था के आने को कम महत्वपूर्ण या आवश्यक नहीं बनाता।

मूल साहित्यिक कृति से अब तक किये गए महत्वपूर्ण परिवर्तनों में से एक में राय

कहानी के अंतिम कुछ पैराओं में विश्वंभर राय की आत्मा की अचानक जागृति की पूरी तरह उपेक्षा कर जाते हैं। *चारुलता* में टैगोर की कहानी में किये गये प्रत्येक परिवर्तन की विस्तृत व्याख्या के विपरीत राय ने महान साहित्यिक कृति पर अपनी स्वयं की इच्छा के असाधारण आरोपन के बारे में कभी भी एक शब्द तक नहीं कहा। ऐसा नहीं था कि वे यह करने के लिए बाध्य थे तथापि यह उनकी उस स्वाभाविक आदत से एक उल्लेखनीय विचलन था जिसमें कि वे अपने माध्यम के हित में साथ ही स्पष्टता, बोधगम्यता और कुछ अंश तक समसामयिकीकरण के लिए प्रत्येक परिवर्तन को तार्किक आधार पर स्पष्ट करते थे।

जलसा घर में मुख्य परिवर्तन जितना क्रूर है उतना ही हठधर्मितापूर्ण। प्रत्यक्षतः विश्वंभर राय की हठियल एक पक्षीयता को बनाए रखने में राय ने अपेक्षाकृत बड़ा उद्देश्य देखा। ताराशंकर बनर्जी की कृति में अंत जो नायक को उसके प्रायश्चित से उदात्त बना देता है, राय के नायक की उस छवि के अनुकूल नहीं था जो उन्होंने घमंडी सज्जन लेकिन मूर्ख कुलीन व्यक्ति के रूप में गठित की थी। शायद राय की फिल्म ने अपनी अन्विति में और जमींदार की अविचलित हठधर्मिता द्वारा पैदा किये गये गहरे प्रभाव में कहीं अधिक उपलब्ध किया। इसके बावजूद राय परिवर्तन की व्याख्या करते तो यह रोचक होती, किसी भी आलोचक ने उनसे स्पष्टीकरण की मांग नहीं की और उन्होंने भी स्वेच्छा से कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया।

ताराशंकर बनर्जी की कहानी के अंत में नशे में डूबा विश्वंभर राय लंबी तथा घोड़े और घुड़सवार दोनों को थका देने वाली घुड़सवारी के बाद अपने पुराने घोड़े से उतरता है। यह वृद्ध आदमी अपने घोड़े से यह कहते हुए क्षमा मांगता है—"यह मेरी और तुम्हारी दोनों की ही बेवकूफी है।"

इसके बाद वह संगीत कक्ष में घुसता है जहां सूर्योदय के समय रोशनियां अभी भी जल रही हैं, खाली बोतलें जमीन पर लुढ़क रही हैं, उसके पूर्वजों के चित्र उसे घूर रहे हैं और विनाश के इस दृश्य पर हावी हो रहे हैं।

> "भयाक्रांत होकर राय पीछे हटा उसने महसूस किया कि वह दर्पण में स्वयं अपने आपको देख रहा है। वह दरवाजे से हटा और मार्मिक आवाज में चिल्लाया—अनंत! अनंत !
>
> "अनंत ने उसकी पुकार का जवाब दिया और उसकी ओर दौड़ा। उसने अपने स्वामी को इस तरह पुकारते हुए कभी नहीं सुना था। जैसे ही वह आया, राय चीखा—रोशनी बुझा दो ! रोशनी बुझा दो ! रोशनी बुझा दो ! संगीत कक्ष का दरवाजा बंद कर दो, संगीत कक्ष !
>
> "इससे अधिक सुनाई नहीं पड़ा। केवल सवार लाश संगीत कक्ष के दरवाजे पर

धमाक से नीचे गिरी।" समाप्त।

जलसा घर और *पारस पत्थर* दोनों में अपनी पहली दो फिल्मों के विपरीत राय अधिकाधिक संभावित भिन्न भिन्न वस्तुओं को साधने की कोशिश करते हैं। वे निर्धनता के शोकाकुल नव यथार्थवादी इतिहासकार के रूप में स्वयं को रूढ़ करने से इंकार कर देते हैं। फिर भी *जलसा घर* उसी तरह से सामाजिक परिवर्तन की एक कहानी है जैसे कि त्रयी की पहली दो फिल्में हैं, और एक निर्धन व्यक्ति की तरह ही *पारस पत्थर* का क्लर्क भी हमारी सहानुभूति जीत लेता है। क्लर्क का घर शहरी जीवन की तकलीफों पर वैसी ही टिप्पणी है जैसे कि *पाथेर पांचाली* ग्रामीण जीवन की तकलीफों पर। भारतीय यथार्थ और इसके साथ तादात्म्य बिठाने की खोज *पारस पत्थर* और *जलसा घर* के विशिष्ट पहलुओं में जीवित बनी रहती है। इन दोनों फिल्मों और इनसे पहले की दो फिल्में, त्रयी के पहले दो भाग, से प्राप्त अनुभव से निश्चित तौर पर वह आश्वस्ति पैदा की होगी जो *अपुर संसार* के सहज प्रवाह में आई और जिसने इसके संयमित भावावेश को अंतिम हद तक पूर्णता प्रदान की।

1830 के आसपास (1930 के दशक में लिखते हुए, प्रभात मुखर्जी कहानी के लेखक, कहानी का कार्यकाल सौ वर्ष पूर्व का रखते हैं) एक नाटक, उन दिनों नाटक अप्रचलित नहीं थे, बंगाल के एक गांव में खेला जाता है, हम मुगल गौरव के पूर्ण अवसान और 19वीं शताब्दी के पुनर्जागरण के बीच संधिकाल के मध्य हैं। 1857 का विद्रोह, ईस्ट इंडिया कंपनी की एकीकृत सत्ता के विरुद्ध अंतिम बड़ा विद्रोह है, अभी होना है, सती प्रथा पर अभी रोक लगनी है, महिला शिशुओं का वध प्रचलित प्रथा है, मानव बलि अज्ञात तथ्य नहीं है, विवाह और जीवन के दैनिक कार्यों के लिए धार्मिक अनुष्ठान भयावह रूप से जटिल और पूर्णतः निरर्थक अवस्था में पहुंच गये हैं। शिक्षा, अत्यधिक अल्पसंख्यक वर्ग तक सीमित निरर्थकता की हद तक पारंपरिक है और इसकी चिंताएं भी शून्य हैं, सामाजिक अवस्था के लिए पूरी तरह अप्रासंगिक। राजा राममोहन राय सती प्रथा के उन्मूलन के लिए अभियान चलायें और पंडित ईश्वरचंद्र विद्यासागर पुनर्विवाह के लिए। एक अंतर्मुखी समाज पहले मुगलों द्वारा तत्पश्चात ईसाइयों द्वारा शासित शताब्दियों के बीच अपनी धार्मिक पहचान को पूरे जोश से बचाता है। अपनी युगों पुरानी परंपराओं के विरुद्ध इन प्रहारों की दुखदायी लहरें गांव की विश्रांति तक मुश्किल से ही पहुंच पाती हैं, यद्यपि वे हिंदू कालेज, 1817 में स्थापित, जो अब युवा बंगाल का केंद्र हो गया है, में काफी वाद-विवाद पैदा करते हैं।

उस काल की रचना समय की भौतिक विशिष्टताओं जिनका कि पता लगना लगभग असंभव होता है, का सहारा लिए बिना की गई है। क्रिया (एक्शन) को अंधेरे से घिरे एक

प्रकाशित क्षेत्र में अभिनीत किया जाता है, गांव को स्थापित नहीं किया गया है, इसके निवासी दुखी आत्माओं के समान हैं जो एकमात्र यथार्थ जमींदार के विशाल भवन के चारों ओर मंडराते हैं। शीर्षक संगीत स्वयं इसकी लय स्थापित कर देता है, पीतल के भारी मंजीरे पूजा के वार्षिक कर्मकांड और देवी दुर्गा के जल निमज्जन की प्रत्यक्ष खुशी के नीचे की पतनशीलता की ओर संकेत करते हैं। पूरी फिल्म *वर्गमेनियाई* अवसाद से घिरी हुई है जिसमें रात्रि दृश्यों, काली छायाओं और बहरा कर देने वाले मंदिर संगीत की प्रमुखता है। जिस शैली में वातावरण का विकास किया जाता है और नाटक किस तरह स्वयं को खेलता है वह महान रूसी फिल्मकारों के मूल सिनेमा का स्मरण कराती हैं—लंबे लंबे शाट, फोकस की गहराई के साथ "लो ऐंगल्स और वाइड ऐंगल्स", बड़े क्लोजअप, भारी आवाजाही और छवियों का औपचारिक समूहन। इसके साथ साथ ध्वनि का लक्षणात्मक प्रयोग किया गया है जैसे कि वृद्ध जमींदार के लकड़ी के खड़ाऊं की परेशान करने वाली आवाज। जब वह सीढ़ियों से या बरामदे से नीचे उतरता है, हमेशा ही तब जब उसे अपनी युवा पुत्रवधू की ओर आना होता है सियारों की आवाज चुप्पी के माहौल को और अधिक भयानक बना देती है, फिल्म की अधिकांश शैली *देवी* के लिए विशिष्ट हो गयी है। यह शैली राय की अन्य फिल्मों में दिखाई नहीं देती है।

नवविवाहित युगल, उमा प्रसाद और दयामयी (सौमित्र चटर्जी और शर्मिला टैगोर द्वारा अभिनीत) छायाओं की तरह चुंबन देते हैं। ये छायाएं सफेद मच्छरदानी में से दिखाई देती हैं। बिस्तर के उनके शाट भी आशंकामय चुप्पी से भरे हुए हैं। *देवी* से पूर्व आने वाली दोनों फिल्मों के अधिस्वर इस फिल्म में हैं। समृद्ध जमींदाराना घर, *जलसा घर* का आह्वानकारी पक्ष, और *अपुर संसार* का वह भाग्यवादी तत्व जिसमें युवा पति पत्नी मिलते हैं और बिछड़ जाते हैं। कुलपिता, काली किंकर (काली का दास) के रूप में *जलसा घर* का छवि विश्वास है जो पिछली फिल्म के शास्त्रीय संगीत और नृत्य के बजाय देवी दुर्गा (काली) से अभिभूत है। युवा दंपत्ति की त्रासदी से आविष्ट क्षण *अपुर संसार* की अंतरधारा से समृद्ध है। *अपुर संसार* *देवी* से पहले बनाई गयी थी और इसमें अभिनय भी उन्हीं अभिनेताओं ने किया था। इसके अलावा शर्मिला के चेहरे पर देवी दुर्गा की पारंपरिक छवि वाली विशिष्ट रेखाएं हैं। यहां दुर्गा की छवि उत्कट अंतर्मुखता से ग्रस्त है और वृद्ध श्वसुर के फ्रायडवादी स्वप्न के पूरी तरह अनुकूल है।

अपने पिता के पैर दबाती हुई युवा दयामयी के दृश्य से *देवी* की आंखों वाले उसके स्वप्न और फिर उसके पुत्र की पत्नी के चेहरे में बदल जाने के दृश्य का विकास कौशलपूर्ण सहजता और सटीकता से किया गया है। जमींदार का स्वप्न सिनेमा में दिखाये गये श्रेष्ठतम स्वप्न दृश्यों में से एक है, अंधेरे में आगे की ओर आती हुई आंखें मध्य में ही तीसरी आंख के आने का उपद्रव (इसकी चाक्षुष अवधारणा स्पष्ट रूप से डिजाइनर की है और विज्ञापन

तकनीक की मितव्यता में राय के प्रशिक्षण की ओर संकेत करती है।) काली किंकर को भरोसा है कि उसके स्वप्न में देवी यह कहने के लिए प्रकट हुई है कि वह कोई और नहीं बल्कि उसकी पुत्रवधू है जो मानवीय रूप में अवतरित हुई है। जब दयामयी, हजारों लोगों द्वारा अपनी अनोखी मगर आस्थापूर्ण पूजा के दौरान मानसिक आघात और थकान के कारण मूर्छित हो जाती है, तो वृद्ध काली किंकर उसके चेहरे पर झुकता है और मान लेता है कि वह समाधि में है। उमा प्रसाद जिसने विद्यालय में व्यवहारवादी शिक्षकों से शिक्षा प्राप्त की है अपनी पत्नी की मुक्ति के लिए गांव वापस जाता है। गोपनीय ढंग से वे नदी किनारे पहुंचते हैं, धीरे धीरे बातचीत करते हैं, जबकि चांदनी में लंबी घास लहराती है जो उनके शांत चेहरों और स्थिर शरीरों के पीछे उनके मानसिक उद्वेलन को प्रकट करती है। दयामयी की दृष्टि दुर्गा की कंकाल मूर्ति पर पड़ती है, मूर्ति पानी में आधी डूबी हुई है, और दयामयी का मन संदेह से विचलित हो उठता है, वह उस विशाल भू-दृश्य से हटकर वापस जाती है उसको छिपकर ले जाने वाली नाव दूर से चमकती है, वापसी के मार्ग रास्ते बंद हो गये हैं। अपने ऊपर अधिकार प्राप्त करने के अपने पति और अपने श्वसुर के बीच चल रहे संघर्ष जिसमें वह विक्षिप्त हो अंततः मर जाती है। जब उमा प्रसाद उसके बचाव के लिए अपना दूसरा और अधिक दृढ़ प्रयास करता है तब तक बहुत देर हो चुकी होती है।)

अपने पिता के साथ काफी विलंब के बाद हुए विवाद में उमा प्रसाद तीखे शब्दों में उनसे कहता है, "आप अकेले नही हैं जो उसे जानते हैं मैं उसे तीन साल से जानता हूं वह देवी नहीं है वह एक मानवी है।" यहां आडीपल त्रिकोण साफ साफ उजागर हो जाता है, दृश्य को जिस तरह फिल्माया गया है, पिता और पुत्र बहुत ही औपचारिक लगावहीन तरीके से एक दूसरे से फासले पर बैठे हैं, उससे यह और भी प्रखर हो गया है।)

अपने पिता के पास से अपनी पत्नी को ले जाने के पुत्र के निर्णय का क्षण राय की अपनी विशिष्ट युक्तियों के साथ सटीक तर्क से गढ़ा गया है। पहले तो उमा निवारण के पुत्र के बीमारी से मुक्त हो जाने पर भ्रमित हो जाता है, वह अंधेरे में सोचता हुआ बैठा दिखाई देता है, इस स्थल पर एक नौकर एक बड़ा दीपक लेकर प्रवेश करता है और बड़े क्लोजअप में उसे बगल की मेज पर रख देता है। यह ऐसा है मानो विवेक के प्रकाश का उदय हो। उमा अपनी कुर्सी से उठता है और दया के कक्ष की ओर दृढ़ कदमों से चल देता है।

यहां राय की पूर्व फिल्मों की रोचक प्रतिध्वनियां मौजूद हैं। कलकत्ता के प्रति अपने जुड़ाव में उमा प्रसाद अपु के निकट है, इस मामले में भी कि नयी शिक्षा उसे पारंपरिक रूढ़ियों से दूर और दूर ले जा रही है। अपने पिता के अन्याय के विरुद्ध अपने अधिकार के आरोपन के लिए सलाह देते हुए शिक्षक का दृश्य *अपराजितो* में प्रधानाध्यापक के साथ

अपु की मुलाकात के दृश्य की स्मृति कराता है। उस मुलाकात के बाद अपु हाथ में ग्लोब लेकर बाहर आता है और बाद में नासमझ सर्वजया को इसके रहस्य समझाने की कोशिश करता है। काली किंकर अपने पुत्र को दया के "ईसाई पति" के रूप में निरूपित करता है क्योंकि उसे ईसाई यूरोपियों और पश्चिमीकृत भारतीयों द्वारा शिक्षा दी गई है। बंगाल का पुनर्जागरण 19वीं शताब्दी के बंगाल की राय की फिल्मों से कभी भी अधिक दूर नहीं दिखता। बाद में *चारुलता* में हमें राममोहन राय द्वारा लिखा हुआ एक गीत भी सुनाई पड़ता है। आधुनिक भारत के पिता राममोहन राय द्वारा लिखा गया यह गीत इंग्लैंड में उदारपंथियों की चुनावी जीत के उपलक्ष में है।)

हालांकि *देवी* ने रूढ़िवादियों में अपने प्रति कुछ विरोध पैदा किया और साथ ही उदारपंथियों को भी विचलित किया, पर यह फिल्म "प्रगति" का पक्ष नहीं लेती। यह परिवर्तन की दुर्दमनीय प्रक्रिया को ही दर्शाती है। रूढ़ि-पालक जमींदार स्वयं में एक खलनायक के रूप में नहीं देखा गया है, उसके अपने तर्क हैं जो उसी तरह से सहानुभूति की अपेक्षा रखते हैं जिस तरह कि रूढ़ि पीड़ित। काली का प्रशस्ति गीत, स्वयं राय द्वारा लिखा गया और अपने पोते के साथ सीढ़ियों पर बैठकर निर्धन वृद्ध व्यक्ति (मोहम्मद इजराइल द्वारा अभिनीत) द्वारा गाया गया है। यह अत्यधिक भावावेश पूर्ण है जो अपनी पूरी क्षमता से भावमयी श्रद्धा जगाता है। काली किंकर की देवी में आस्था पूरी गंभीरता के साथ दर्शायी गयी है। उसमें बनावट का ऐसा कोई भी संकेत नहीं है जो पात्रों के प्रति दृष्टिकोण को विवादपूर्ण बनाता है। यहां राय का दृष्टिकोण कहानी के लेखक की अपेक्षा अधिक सहानुभूतिपूर्ण है। इस कहानी की विषय वस्तु रवीन्द्रनाथ टैगोर ने प्रभात मुखर्जी को सुझाई थी, सुधारवादी ब्रह्म समाज के अगुवा होने के कारण रवीन्द्रनाथ टैगोर इसे स्वयं नहीं लिखना चाहते थे। कहानी के हिस्से में फिल्म की तुलना में दोष ज्यादा आता है, जहां तक परिणाम का प्रश्न है फिल्म में गहराई अधिक है।)

बंगाली मातृ पूजा के प्रति राय की अरुचि फिल्म में अंतर्निहित है। बंकिम चंद चटर्जी के विपरीत यह वह अरुचि है जिसमें राय रवीन्द्रनाथ टैगोर के साथ सहभागिता करते हैं। ब्रह्म समाज आंदोलन उस वेदांत दर्शन पर अत्यधिक निर्भर करता है जो बार बार "पुरुष" शब्द को ऐसी सार्वभौम सत्ता के रूप में प्रयुक्त करता है जो हर काल और स्थान में मौजूद है। ईश्वर की यह प्रतीति जो निराकार है, बौद्धिकों की एक रचना के रूप में, बंकिम चंद की उस ईश्वरी छवि से एकदम भिन्न है जिसे एक भौतिक छवि, यानी मातृरूप में एक प्रतिमा में गढ़ दिया गया है। बंकिम पहले आधुनिक हिंदू तत्ववादी थे। टैगोर समाज सुधारकों की महान परंपरा में थे उन्होंने विवेक और बुद्धि की पैरोकारी की, जिसमें सहज ज्ञान और प्रावृत्तिक तत्व गुंथे हुए थे, लेकिन ये तत्व कभी भी नियामक शक्ति नहीं बने।

स्पष्टतः मातृ देवी मिथक के प्रति राय का दृष्टिकोण उनकी विवेकशीलता से प्रभावित

है। फिल्म में जो दृष्टि अंतर्निहित है वह है कि भारत तथ्यों के सहारे पर कम परंतु मिथकों के सहारे पर बहुत अधिक रहता है। जब तक इन दोनों के बीच एक संतुलित सहसंबंध स्थापित नहीं किया जाता तब तक मिथक अच्छाई की अपेक्षा बुराई ही अधिक करेंगे।

जिस तरीके से काली किंकर अपनी युवा पुत्रवधू को लगातार मां कहकर संबोधित करता है, वह एक आम रीति के अनुसार ऐसा करता है, वह तरीका कम से कम उसके मामले में सफल नहीं हो पाता—यह तरीका है काम के आकर्षण को विस्थापित और उदात्त करने का ताकि वह पुत्रवधू को महान माता के ऊंचे पद पर बिठा सके और इस तरह उसे अपने पुत्र से अलग कर सके।

बड़े बेटे तारा प्रसाद का चरित्र राय के दृष्टिकोण पर परोक्ष रूप से रोशनी डालता है जब वह रात्रि में समय से थोड़ा पहले आ जाता है तो उसकी पत्नी को आश्चर्य होता है। पत्नी उसके शराब पीने पर भला बुरा कहती है। वह कहता है, "यह शराब नहीं है, यह *कारण* या शिव से जुड़ा हुआ पवित्र पेय है। यह ब्रह्मचारियों का भी प्रिय है यानी कि वह संप्रदाय जो शिव के अवधूत रूप की अर्चना करता है जिसमें वे मदिरा पान करते हैं, भूत-प्रेतों को साथ रखते हैं, श्मशानों में विचरते हैं और विचित्र तांत्रिक यौन क्रियाओं में लिप्त रहते हैं।

1961 का वर्ष रवीन्द्रनाथ टैगोर का जन्म शताब्दी वर्ष था। राय ने इसको एक फीचर फिल्म और एक दीर्घ वृत्तचित्र के साथ मनाया। यह उस व्यक्ति के प्रति एक श्रद्धांजलि थी जो भारतीयों, विशेष रूप से बंगालियों की कुछ पीढ़ियों का पथ-प्रदर्शक रहा था। बड़ी संख्या में लिखी गई टैगोर की कहानियों में से बहुत-सी कहानियां उत्कृष्ट शिल्पबद्ध हैं, फिर भी उनमें सहजता, मानवता है जो उन्हें एक विशाल पाठक वर्ग में लोकप्रिय बना देती है। प्रायः ये कहानियां जब पूर्णाकार फीचर फिल्म में तबदील हुई हैं तो क्षत हुई हैं, इसलिए उन पर लघु फिल्में बनाने का निर्णय एक बहुत ही ठोस और उचित निर्णय है। *पारस पत्थर* की तरह एक कॉमेडी *मनीहार* का निर्माण राय का अपनी क्षमताओं को नापने का एक और प्रयास है—इस प्रकार भयानक रूप में। मनिहार "तीन कन्या" में फिल्माई गयी तीन कहानियों में से एक है।

एक समृद्ध युवा पत्नी की जेवरात के प्रति मनोग्रस्तता की कहानी को 'शंकुल स्थान भय' और असमंजस (सस्पेन्स) के सहारे प्रतिपादित किया जाता है। एक शिल्पकार के नाते, राय स्वयं को काफी हद तक उचित ठहराते हैं, लेकिन यह वह क्षेत्र है जिसमें उनके आगे दुर्जेय प्रतिद्वंद्विता है—कार्ल ड्रेयर, पाल वेगनर, राबर्ट वेन जैसे *स्कैन्डिनेवियाई* उस्तादों तथा बाद में जेम्स व्हेल और अल्फ्रेड हिचकाक जैसे विशेषज्ञों के साथ। तालाब की सीढ़ियों पर कहानी का पढ़ा जाना खूबसूरती से दर्शाया गया है और इसमें ऐसी व्यग्रता है जो कहानी

में वर्णित घटनाओं से मेल नहीं खाती। न तो जेवरात को लेकर मनोग्रस्तता का दृश्य और न ही ब्लैकमेल के दृश्य ही पूरी तरह विश्वासोत्पादक हैं। यह फिर एक नयी दिशा में राय की क्षमता का संकेत देने की अपेक्षा आंतरिक स्थितियों के नियोजन के अर्थ में *चारुलता* की पूर्वपीठिका का काम अधिक करती है। कोई यह महसूस करने से नहीं रुक सकता कि ऐसे अविशिष्ट क्षेत्रों में दखलंदाजी करना न तो राय के लिए ही लाभप्रद है और न उनके दर्शकों के लिए। टैगोर के अपने कृतित्व में अनेक कहानियां जिनमें यदा-कदा अपरिचित क्षेत्रों में प्रवेश करने का प्रयास किया गया है कहीं बेहतर बन पड़ी हैं। यह जानना रोचक है कि यह फिल्म दो कहानियों के साथ ही बाहर भेजी गयी थी, *मनिहार* को छोड़ दिया गया था।

पोस्ट मास्टर में राय एक बार फिर अपने रूप में दिखाई देते हैं। चालीस मिनट की यह फिल्म अपने संक्षिप्त लेकिन कुशलता से शिल्पबद्ध किये गये अपने रूपाकार के भीतर मानवीय गरिमा से आप्लावित है। दासी लड़की बाहर छलकते प्रेम के भंडार वाली एक छोटी मां की तरह है, कसे हुए होठों की उसकी मर्यादामय चुप्पी उसके कोमल मन को अपने ऊपर लगे आघातों को दिखाने से बचाती है। शहर से आने वाला युवा डाकिया उसमें आकस्मिक रुचि लेता है, अपना खाली समय उसे अक्षर ज्ञान कराने और उसके साथ बातचीत करने में बिताता है। अनाथ बच्ची के लिए, जो बाल श्रमिक की अपनी कठोर जिंदगी के बीच किसी की ऐसी रुचि की अभ्यस्त नहीं है, यह सब एक वास्तविक संबंध में बदल जाता है मानो उसने किसी ऐसे को पा लिया हो जो उसे महत्व देता है। वह एकमन होकर उसकी ऐसी देखभाल करती है जैसे कोई केवल अपने निकट रिश्तेदारों की करता है, इसलिए वह उस व्यवहार के लिए तैयार नहीं है कि वह डाकिया अपना तबादला करा लेता है और उसकी चिंता किए बगैर उसे छोड़ जाता है। जो कुछ वह सोच पाता है वह यह है कि वह उसे एक छोटी-सी भेंट देता है और वह इतनी दुखी है कि इसे स्वीकार नहीं कर सकती। ऐसी गतिशीलता या असंलग्नता उस दुनिया का हिस्सा नहीं है जिसमें वह रहती है, उसकी दुनिया जो बांस के कुंजों, मलेरिया के मच्छरों को पैदा करने वाले ठहरे पानी के पोखरों और चुप्पी को तोड़ते हुए एक अकेले पागल व्यक्ति से घिरी हुई है।

शताब्दी के मोड़ पर जब यह कहानी घटती है, पोस्ट ऑफिस कोई बहुत पुरानी संस्था नहीं है और यह रेलवे के साथ साथ बाहरी विश्व से जुड़ने की एक छोटी-सी कड़ी भी है। गांव एक आत्मनिर्भर इकाई है, यहां रिश्ते उससे कहीं अधिक स्थायी हैं जितना कि डाकिया उनके बारे में सोचता है। वे शहर और गांव के बीच प्रारंभिक दूरी के भाव को पूर्णता से उपलब्ध कराते हैं और दोनों ही स्थानों के दृष्टिकोणों को सहानुभूतिपूर्ण व्यंग्य के साथ आमने-सामने लाते हैं। ओपू गांव से शहर को गया था, डाकिया नंद इससे उलट यात्रा को चित्रित करता है। ग्रामीण बंगाल की टैगोर की अवधारणा विभूति भूषण के जैसी रूमानी

नहीं है। नंद कीचड़ में फिसलता है, सांप की केंचुल देखकर कांपता है और पागल आदमी उसके लिए समूचे गांव के आतंक का प्रतीक बनता है।)

राय टैगोर की कहानी के अंत को श्रेष्ठतम प्रभाव के साथ बदलते हैं। मूल कहानी में छोटी लड़की डाकिये से अनुरोध करती है कि वह उसे अपने साथ ले चले, लेकिन वह इनकार कर देता है। फिल्म में राय सिनेमा की शब्दविहीन अभिव्यक्ति क्षमता के प्रयोग को प्राथमिकता देते हैं और स्वाभिमान आहत लड़की को डाकिये के सामने से पलटाकर लड़की की भावनात्मक परिपक्वता को और अधिक बढ़ा देते हैं। डाकिये की लगावहीनता जो पर्दे पर इतनी अधिक स्वयं स्पष्ट है, लड़की को गहरा आघात पहुंचाती है। उस स्थिति में उसका साथ ले चलने का अनुरोध असंगत प्रतीत होता है और इसे अनावश्यक रूप से अतिभावुकतापूर्ण बना देता है।)फिल्म के अंधकार तथा छायामय वातावरण में मुश्किल से एक ही दृश्य है जिसमें सूर्य की रोशनी है—लंबे रात्रि दृश्य घर भीतर का दारिद्र बड़े खुले क्षेत्रों की जिनकी कि गांव में भरमार होती है, कैमरे द्वारा उपेक्षा, सूक्ष्मता से गांव के वातावरण के अमूर्त रूप से सीमित प्रभावों को दर्शाते हैं। गांव अब तक उस शहर से दूर है जहां से डाकिया आता है और जब वह विस्वर तथा असामयिक गायन करने वाले स्थानीय लोगों के समूह के साथ बैठता है तो शहरी वातावरण का कुछ अंश वहां ले आने का आभास कराता है।

समाप्ति में स्थान का उनका प्रतिपादन (*पोस्ट मास्टर*) डाकिये के विपरीत है—खुला हुआ, हवादार, धूप भरा, नदी और झूला पड़े हुए विशाल वृक्ष के साथ। कमरों में बड़ी बड़ी खिड़कियां हैं जिनमें से बाहर की प्रकृति दिखाई देती है, यहां तक कि कीचड़दार ग्रामीण रास्ते भी चौड़े हैं और परिप्रेक्ष्य की गहराई को प्रकट करते हैं, लेकिन बड़ी बड़ी खिड़कियां केवल अमूल्य के घर में हैं और वह शहर से नया आया है और *देवी* में उमा प्रसाद तथा *अपुर संसार* में कलकत्ता के अपु के समान है। उमा प्रसाद और अपु गांव की तुलना में हिंदू कालेज के 'युवा बंगाल' के अधिक नजदीक हैं। तथापि उनके विपरीत अमूल्य का गांव के साथ कोई टकराव नहीं है। गांव की ओर ले जाते हुए रास्ते यानी गांव में उसकी वापसी गांव के साथ उसके लगाव की पुष्टि करती है और गांव को शहर में विकसित हो रही नयी संस्कृति के साथ जोड़ती है।

समाप्ति तीनों में से तीसरी और सबसे लंबी, पूरी तरह कहानी नहीं है। एक ऐसी विद्रोही युवा लड़की की इसकी कथावस्तु, जो अपनी मर्दाना जिंदगी को छोड़ने से इनकार कर देती है और जबरदस्ती शादी के बाद ही परिपक्व होती है, अपने आप में एक संपूर्ण फिल्म हो सकती थी, हल्के फुल्के आकर्षक ढंग से प्रतिपादित करके राय इसमें ऐसी ऊष्मा और ऐसा सूक्ष्म हास्य पैदा कर देते हैं जो अब तक की उनकी फिल्मों में नहीं था। साथ ही यह फिल्म शहर और देहात के रिश्ते को और आगे जाकर अन्वेषित करती है। अमूल्य

के पास नेपोलियन का मूल्यवान चित्र, ऊनी मोजे और वे आक्सफोर्ड जूते हैं जो गांव के कीचड़ भरे रास्तों पर लगातार फिसलते हैं, ये सब उस समय के सांस्कृतिक आचार-व्यवहार को प्रकट करते हैं। कालेज शिक्षित अमूल्य की महत्व दृष्टि और अशिक्षित मृणमयी की उन्मुक्त चेतना के बीच विरोधाभास दिलचस्प है। दोनों का विवाह एक ऐसे प्रारंभिक उदाहरण का प्रतीक है जिसमें एक युवक अपने स्वयं के विवाह के बारे में अपनी इच्छा को महत्व दे रहा है। उसका मृणमयी जैसी वयस्क लड़की से शादी करना भी बदलते सामाजिक रीति-रिवाजों का संकेत है। जैसा कि *पोस्ट मास्टर* में है इसके पात्र वास्तविक हैं और गांव के जीवन की धाराओं को पूर्णता के साथ प्रस्तुत किया गया है। *पाथेर पांचाली* के बाद राय की ग्रामीण परिदृश्य की ओर वापसी सहज और आकर्षण भरी है। *त्रयी* की उत्कटता से मुक्ति, यहां वे अपने *चैकोवियाई* श्रेष्ठ रूप में दिखते हैं—दोनों कहानियों में जो उनकी चारित्रिक विशिष्टता है *समाप्ति* में प्रतिपादन का हल्का-फुल्कापन इस फिल्म को उनकी सर्वाधिक मोहक फिल्मों में से एक बना देता है और यह गुण *पोस्ट मास्टर* की कोमल करुणा का पूरक बनता है।

टैगोर वृत्तचित्र प्रतिपादन की इस मनःस्थिति में भागीदारी नहीं करता। यह वृत्तचित्र एक गंभीर श्रद्धांजलि है, एक ऐसी श्रद्धांजलि जो कवि-दार्शनिक-संगीतकार-चित्रकार और अंततः पिछले सौ वर्षो से विकसित होते पुनर्जागरण के शिल्पी की समग्र छवि प्रस्तुत करने की भरसक चेष्टा करती है। राय टैगोर-युग के इतने प्रत्यक्ष और पूर्ण अवदान हैं कि यह फिल्म उनकी स्वयं अपने प्रति जानकारी के पुंज का ही कोई रूप है। एक ऐसी परंपरा का संज्ञान जिसे स्वयं उनकी प्रतिभा, ईलियटवादी विशिष्ट परिभाषा के अंतर्गत, सिनेमा के नये माध्यम के अंदर आगे बढ़ा रही थी। स्थिर फोटोग्राफ, कवि के प्रारंभिक जीवन के पुनःअभिनीत दृश्यों का सांप्रतिक फिल्मांकन, न्यूजरील, क्लिपिंग, ड्राइंग, लैंडस्केप पेंटिंग, गीत, राजनीति की घटनाओं का पुनर्स्मरण द्रुत *डिजॉल्व* के माध्यम से निरंतर गतिशीलता आदि को स्वयं अपने द्वारा लिखे और पढ़े गये पाठ द्वारा एक साथ जोड़कर राय ने एक विराट श्रद्धांजलि निर्मित की और भारत में अब तक बनी सर्वश्रेष्ठ जीवनी फिल्म भी। राय इसे वह ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य और महत्ता देने में सफल हुए जिनकी मांग ऐसी फिल्म करती थी। ऐसा करने में उन्होंने स्वयं अपनी कोई व्याख्या प्रस्तुत नहीं की। विद्वानों और समीक्षकों द्वारा स्थापित प्रचलित दृष्टिकोण को ही उन्होंने अपनाया। इसे उन्होंने वर्णनात्मक स्पष्टता और सम्मान के उस भाव के साथ प्रस्तुत किया जो उनका अपना था।

कंचनजंघा (1962) राय की पहली रंगीन फिल्म थी, जो उनकी अपनी कहानी पर आधारित थी और इस दृष्टि से भी पहली कि इसमें तत्कालीन समाज को साधा गया था। *पारस पत्थर* में कलकत्ता के जीवन की झलकियां हैं लेकिन यथार्थ और फैंटेसी का मिश्रण इसे किनारे कर देता है, और उसे तत्कालीन सामाजिक रीति-रिवाजों पर टिप्पणी के रूप

में मुश्किल से ही व्याख्यायित किया जा सकता है। लेकिन *पारस पत्थर* के कुछ दृश्यों की तरह *कंचनजंघा* में भी समाज के विभिन्न वर्गों के बीच की, भले ही यह सौम्य क्यों न हो, टकराहट को उजागर किया गया है। राय बहादुर ब्रिटिश उपनिवेशवाद के चाकर का कुछ कुछ एकांगी रूढ़ रूप है जो अपने मूल्यों से चिपका हुआ है और उन्हें अपने आश्रितों पर आरोपित करता है—"स्वामियों के" चले जाने के बहुत समय बाद भी। उसकी सामाजिक व्यवहार संहिता भी एकांगी है, उसकी पत्नी को अपनी स्वयं की इच्छारहित एक आज्ञाकारी परछाई होना चाहिए, परिवार में विवाह उसकी मर्जी से होना चाहिए और विवाह से उसके धन और सम्मान में वृद्धि होनी चाहिए, धन और सम्मान जिन्हें किसी भी अन्य वस्तु की तुलना में सर्वोपरि रखा जाना है, उनके लिए वह कुछ भी छोड़ सकता है यहां तक कि पक्षियों के प्रति अपनी रुचि को भी। उसके लिए ऐसे युवक की कल्पना करना जो नौकरी का प्रस्ताव ठुकरा सकता हो, ऐसी लड़की की कल्पना करना जो धन और पद वाले उम्मीदवार वर को ठुकरा सकती हो, असंभव है। उसकी यह हठवादिता संवादों की बहुलता से, हालांकि यह संवाद खूबसूरत लिखे गये हैं, और भी अधिक भंगुर हो जाती है। इन सबके ऊपर समूची कहानी परिवार के मैदान की ओर प्रस्थान करने से पूर्व एक घंटा चालीस मिनट फिल्म की अपनी अवधि में ही पूरी हो जाती है। काल, स्थान और क्रिया की एकता का पालन इससे अधिक कसे हुए तरीके से नहीं हो सकता था। जो कारक इस सबको कोमल बनाता है, संबंधों के अत्यधिक सम्मित प्रबंध की कठोरता को लचीला करता है, वह दार्जिलिंग है—इसका सुहावना मौसम, धूप, बादल और कोहरे का मिला-जुला प्रभाव। *कंचनजंघा* में रंगों का प्रतिपादन उत्कृष्ट और सुकुमार है। यह कहानी में एक अदृश्य सर्वव्यापी चरित्र की महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, विभिन्न मनःस्थितियों को दर्शाते हुए परिणतियों को प्रभावित करते हुए कभी उदासी और कभी रहस्य की रचना करते हुए, अगले ही क्षण एक मुस्कान में बदलते हुए। राय प्रकृति के इस परिवर्तनशील खेल का बहुत सोच समझकर इस्तेमाल करते हैं, कुछ खास दृश्यों को एक प्रकार के रंगों में और अन्य दृश्यों को दूसरे रंगों में फिल्माते हैं और इस तरह अपने रंग को आकर्षक भी बना देते हैं और अर्थपूर्ण भी। अगर राय उस ग्राम्य घर को कलकत्ता के नजदीक पाने में सफल हो जाते हैं जहां इस फिल्म का एक पिकनिक के रूप में फिल्मांकन किया गया था तो प्रकाश के परिवर्तित होते पहलू अनुपस्थित हो जाते हैं। तब कहानी की कठोर सम्मित और अनम्यता क्या इस फिल्म को प्रभावहीन बना देती है ?)

मुझे याद नहीं पड़ता कि कलकत्ता में, आकस्मिक प्रदर्शन के रूप में भी *कंचनजंघा* की समीक्षा की गई हो, इसका प्रदर्शन न्यूयार्क में आधुनिक कला संग्रहालय (म्यूजियम आफ माडर्न आर्ट) में राय पुनर्वलोकन में किया गया था। इसमें और इसके बाद के प्रदर्शनों में मैंने इस फिल्म के आकर्षण को इसकी वाग्मिता और इसके सटीक समय निर्धारण को

अधिकाधिक आकर्षक महसूस किया। वे दृश्य जिनमें एक भारी भरकम संपन्न अधिकारी एक युवा शैतान किस्म की लड़की को लुभाने की जी-तोड़ कोशिश करता है जिसमें लड़की उसके आत्मविश्वास को धता बताकर लगातार उसकी पकड़ से फिसलती रहती है, चटकीले हास्य और हल्के व्यंग्ययुक्त उत्कृष्ट अवलोकन से भरे हुए हैं। कैमरे का स्थापन और संवादों का समय निर्धारण, यदाकदा अन्य वृत्तों के साथ अंतर्सबंध बनाते हुए वृत्तीय लय, अपने आप में ऐसी अनिवार्यता छिपाये हुए है जैसे कि उनके अलावा और कुछ संभव ही न हो। वास्तविक समय और फिल्मी समय का समानंतीकरण इसमें विश्वसनीयता का एक अतिरिक्त पक्ष और जोड़ देता है। बाल फिल्मों के अलावा राय ने जो कुछ भी बनाया है उसमें *कंजनजंघा* एक अत्यधिक आनंददायक वस्तु है। इसमें स्पर्श की जाले जैसी मुलायमीयत है और साथ ही यह अर्थपूर्ण भी है और दूसरी फिल्मों में आई सामाजिक टिप्पणियों की पंक्ति में भी यह आती है। केवल अनिल चटर्जी वाले प्रसंग में उतनी विश्वसनीयता नहीं है जितनी कि अन्य फिल्मों में। राज बहादुर का अपनी पत्नी को व्यक्तित्वहीन स्थिति में ला देना त्रासद है, उसकी पत्नी का गीत उसकी दुर्दशा को भावपूर्ण ढंग से अभिव्यक्त करता है लेकिन उसके मिथ्याभिमानी पति पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता। उसी प्रकार उसकी यह चिंता कि उसकी पुत्री उसी दुर्भाग्य का सामना न करे जिसका कि सामना उसकी बड़ी बहन और उसकी मां कर रही है, सूक्ष्मता से उभरकर आती है। चाचा हमेशा चिड़ियों को तलाशता है और बेटा लड़कियों का पीछा करता है, यह पिता द्वारा निर्धारित शादी के तात्कालिक विकट कार्य के साथ विरोधाभास उपस्थित करता है। फिल्म कुछ ऐसी नयी मनःस्थितियों को पकड़ती है जो नाजुक और भंगुर हैं, और जो पहले या बाद में राय की फिल्मों में कभी नहीं देखी गयीं।

अभियान (1962) राय के कैरियर में एक ऐसे विचलन का प्रतिनिधित्व करती है जिसकी व्याख्या इसी रूप में की जा सकती है कि राय जिस काम के लिए प्रशंसित होते हैं, कुछ समय बाद वे उस काम की सीमाओं को तोड़कर बाहर आना चाहते हैं और किसी नये और अप्रचलित पर हाथ अजमाना चाहते हैं। टैक्सी ड्राइवरों, तस्करों और रखैल औरतों की दुनिया राय के मध्यवर्गीय अनुभव से उतनी ही दूर है जितनी कि कोई भी वस्तु हो सकती है।

टैक्सी ड्राइवर नरसिंह के पास 1930 की क्रायसिलर गाड़ी। वह इसे पश्चिम बंगाल के एक छोटे नगरीय क्षेत्र में चलाता है, उसके पूर्वज दूरस्थ राजस्थान से आये थे और एक योद्धा जाति से संबंधित थे। नरसिंह (सौमित्र चटर्जी) अपने पूर्वजों के बहादुराना कार्यों के अनुरूप कार्य करने की कठिन चेष्टा करता है और जिसे वह अपनी पतनावस्था मानता है उसका कष्ट आक्रामक पथरीली चुप्पी के साथ उठाता है। वह एक ऐसे तस्कर के साथ

मिल जाता है जो उसे एक ट्रांसपोर्ट कंपनी में अपने भागीदार के रूप में काम करने के लिए ललचाता है, इसी बीच तस्कर की रखैल गुलाबी (वहीदा रहमान) स्वयं को नरसिंह के प्रति आकर्षित पाती है, जबकि नरसिंह अपने ही शहर से आने वाले एक परिवार की एक ईसाई स्कूल की अध्यापिका, (रूमा गुहाठाकुरता) के प्रेम में पड़ा हुआ है। यह अध्यापिका अपने परिवार की इच्छाओं के विरुद्ध एक ईसाई पादरी के एक पैर वाले धर्मनिष्ठ दिखने वाले पुत्र से शादी करना चाहती है। वह अंततः अपने प्रेमी के साथ भागने के लिए नरसिंह का इस्तेमाल करती है जिसे वह अपना एक मित्र समझती है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। जब ईसाई लड़की से अंग्रेजी सीखने की उसकी महत्वाकांक्षा, और शायद उस लड़की का हाथ थामने की महत्वाकांक्षा असफल हो जाती है और उसके मित्र व्यापारी की तस्करी की गतिविधियां उजागर होने को हैं तो नरसिंह गुलाबी द्वारा प्रस्तावित विकल्प को स्वीकार कर लेता है कि वह वहां से निकल चले और खेती-किसानी करे। वह अंततः गुलाबी को अपनी जीवनसंगनी बना लेता है।

ताराशंकर बंद्योपाध्याय के उपन्यास में यह कहानी दारुखोरी की झड़पों और ड्राइवरों की आपस की प्रतिद्वंद्विता तथा भाग दौड़ से भरी हुई है—इन सबको राय निष्ठा के साथ पर्दे पर रूपांतरित करते हैं। तस्कर के रूप में चारु प्रकाश घोष और गुलाबी के रूप में बंबई की प्रथम श्रेणी की कलाकार वहीदा रहमान जानदार अभिनय करते हैं। गुलाबी का लुभाने का दृश्य जिसमें वह गाती है, नृत्य करती है, आह भरती है और जिसमें वह अपने जीवन की कहानी कहती है—लंबे टेकों के कुछ ही मिनट के भीतर स्मरणीय है। रवि घोष, जिन्हें हम बाद में राय की अनेक फिल्मों में देखते हैं, आकर्षक ढंग से वास्तविक है। वैसे ही ईसाई परिवार और ड्राइवरों का समूह भी है लेकिन राय की वातावरण की समझ और उसके प्रयोजन अपने श्रेष्ठतम रूप में अधूरे और अपने बदतरीन रूप में अत्यधिक हैं। *त्रयी, देवी* और *जलसा घर* के निर्माता के लिए प्रयोजन की अनिश्चितता एक बहुत बड़ी बाधा सिद्ध होती है। इस समस्या के निराकरण के लिए राय मानसिक घटनाओं की अपेक्षा बाहरी कार्य व्यापार का सहारा लेते हैं, और संकेत देने की अपेक्षा उसकी व्याख्या करते हैं, इसका परिणाम पूर्वभाषित अति-साधारणता में आता है, प्रत्यक्षतः राय ऐसे क्षेत्र में दिखाई देते हैं जिसके लिए उनकी प्रतिभा अनुकूल नहीं है। यह समस्या और भी अधिक जटिल हो जाती है क्योंकि सौमित्र चटर्जी की शहरी विद्वान मंडली के साथ घनिष्ठता इतनी मुखर है कि उनको लंबी दाढ़ी लगवाना, एक अस्थायी आक्रांत भाव और बनावटी उच्चारण स्वर आदि इस चरित्र को राय द्वारा लिये गये फिल्मी पात्रों में से एक सर्वाधिक अनुपयुक्त पात्र बना देते हैं। यह कभी भी वास्तविक प्रतीत नहीं होता, आज फिर उस फिल्म को देखा जाए तो कुशल कृतियों की पंक्तियों में यह दुखते अंगूठे जैसी प्रतीत होती है। यह तथ्य कि इसके बाद *महानगर* (1963) और *चारुलता* (1964) का निर्माण हुआ, शायद राय की

रचनात्मकता के वास्तविक चरित्र की ओर वापसी और इसकी सीमाओं की स्वीकृति की ओर संकेत करता है।

अब तक राय की फिल्मों के नायक पुरुष थे। *त्रयी* में सर्वजया अपने पति की अनुपस्थिति में नायकत्व ग्रहण कर लेती है, *अपुर संसार* में अपर्णा अल्प समय के लिए अपु के अस्तित्व का केंद्र बन जाती है तथापि वे अपने पुरुषों की परछाइयां हैं। वे अपनी इच्छानुसार नहीं जी पाते। *पारस पत्थर* की पत्नी अपने पति के कार्यों के अनुसार ही सुख या दुख प्राप्त करती है, *जलसा घर* में वह अपने आप में और भी कम महत्वपूर्ण है। *देवी* में वह खेलने की वस्तु है, पिता और पुत्र के बीच मनोवैज्ञानिक टकराव की जिन्स यानी बलि की वस्तु। *तीन कन्या* में धनी औरत असामान्य है, दासी लड़की बचपन से ही छोटी मां की भूमिका में है जो दूसरों की चिंता करती है, भीतरी तौर पर प्यार की भूखी है, उसकी शादी की इच्छा के आगे और एक पारंपरिक भूमिका के निर्वाह के लिए उसका लड़कपन समर्पण कर देता है। *कंचनजंघा* में राय बहादुर की सबसे छोटी लड़की में विद्रोह के संकेत मौजूद हैं, शायद अपनी मां की अत्यधिक दीनता और पिता द्वारा कराई गयी दुर्भाग्यपूर्ण शादी से बहन को मिलने वाली यातना की प्रतिक्रिया में।

उनकी अगली तीन फिल्मों—*महानगर* (1963), *चारुलता* (1964) और लघु फीचर फिल्म *कापुरुष* (1965)—में औरत के प्रति एक नया बोध दिखाई देता है, पुरुष की परछाई के रूप में नहीं बल्कि उसकी अपनी निजता के रूप में। *महानगर* में पहली बार ऐसा होता है कि हम ऐसी औरत को सामने पाते हैं जो अपनी स्वयं की जिंदगी की दिशा निर्धारित करने की संभावनाओं के प्रति जागरूक है। विशिष्टता यह है कि जागृति का यह स्पर्श पति की ओर से आता है, क्योंकि पारंपरिक रूप से पुरुष स्वतंत्र है ठीक उसी तरह जैसे कि वे स्त्रियों को गुलाम बनाये हुए हैं। लेकिन पारंपरिक रूप से भी जब वे अपने कार्य की परिणतियों को देख चुकते हैं तो वे पीछे भी हट जाते हैं। यह पति ही है जो अपनी कुछ कुछ डरी हुई पत्नी को कुछ समय के लिए नौकरी करने की संभावना के बारे में बताता है ताकि कुछ वित्तीय कठिनाइयों को दूर किया जा सके। आरती इस चुनौती को स्वीकार करती है, अपने प्रत्यक्ष कच्चेपन के बावजूद वह मजबूत और गंभीर है और अपने काम को सफलता से करती है—सफलता जो कुछ कुछ उसके सिर चढ़ जाती है शैम्पेन के पहले स्वाद की तरह। नथुने फुलाकर स्नानघर के दर्पण में पहले वह अपना पैसा स्वयं अपने आप को दिखाती है फिर अपने पति को दिखाती है। वह कुछ रुपया अपने ससुर को देती है जिन्हें अपने चश्मे के लिए रुपयों की जरूरत है। ससुर को रुपया देने में उसमें शालीनता का अभाव दिखता है, ससुर रुपया ले लेता है लेकिन उसके उनके लिए काम करने को उचित नहीं ठहराता। जब उसके नियोक्ता द्वारा उसकी एंग्लो-इंडियन मित्र को निकाल दिया

जाता है तो यह आरती का अपनी स्वतंत्रता का अभाव ही है जो उसे त्यागपत्र देने की शक्ति प्रदान करता है। मित्र को वस्तुतः खर्चे कम करने के लिए निकाला जाता है लेकिन मालिक उसे मिश्रित-समुदाय की सभी लड़कियों की कथित अनैतिकता के प्रति तिरस्कारपूर्ण नाराजगी प्रदर्शित करते हुए निकालता है। इस मिथ्यापवाद के प्रति अपने आक्रोश की स्वाभाविकता में आरती अपना त्यागपत्र, जिसे उसके पति ने तब तैयार किया था जब उसने आरती को इतना आत्मनिर्भर होते हुए देखा था, आगे बढ़ा देती है। इसी बीच उसकी अपनी नौकरी छूट जाती है और वह उसके पास पहुंचने तथा उसे त्यागपत्र देने से रोकने की कोशिश करता है।

अपने अंदर नयी अस्मिता तलाश करती हुई एक पारंपरिक मध्यवर्गीय गृहणी के रूप में माधवी मुखर्जी आत्म-त्याग और आत्म-सम्मान के बीच अंतर्द्वंद्व से ग्रस्त औरत का आदर्श प्रतीक है, यहां तक कि उसकी निगाहें भी अपने काम काज में खोई उस गृहिणी की हैं जो अपने भीतर, गुपचुप कहीं औरत के समस्त सम्मोहक रहस्य को छुपाये हुए है। यह सम्मोहक पक्ष *चारुलता* में स्वयं को और अधिक खोलता है लेकिन संभावना का संकेत वहां पर है जहां माधवी परंपरा के पर्दे के पीछे से झिझक के साथ प्रकट होने का एक संपूर्ण संकेत प्रदान करती है, उसकी भावनाओं की सुनिश्चितता के आगे खड़े होकर। अनिल चटर्जी, एक अनुभवी अभिनेता जो उसके पति की भूमिका में है, अपने प्रति पूरी तरह आश्वस्त नहीं है।

तीन कमरों में अटी हुई तीन पीढ़ियों के परिवार के सदस्यों के बीच विभिन्न धाराओं से संचालित पारिवारिक जीवन को विविधता के साथ प्रस्तुत किया गया है, इसका कथानक जटिल है और तीन अंतर-गुंफित भागों में बंटा हुआ है: यहां घर है, कार्यालय है और श्वसुर के कार्यों का उपकथानक भी है। फिल्म जीवंत बनी रहती है क्योंकि इसका चाक्षुष अभिनय जिसमें आरती का नौकरी खोजना, करना और छोड़ना पारिवारिक जीवन में और इसके रिश्तों के जटिल जाल विचारात्मक और पीढ़ीगत मतभेद आदि में गुंथा हुआ है। ये सारी बातें बहुत तीव्रता के साथ प्रतिपादित की गई हैं और ये फिल्म का एक बड़ा हिस्सा ले लेती हैं। उदाहरण के लिए श्वसुर के कार्यों का उपकथानक फिल्म में एक महत्वपूर्ण भूमिका रखता है। यह पारिवारिक संबंधों में एक विश्वसनीय सघनता पैदा कर देता है और यह आरती के उस उद्यम के तीखे विरोध में है जो पारिवारिक जीवन से बाहर उसकी जिंदगी, उसकी नौकरी और धन कमाने की उसकी नवोपलब्ध क्षमता में निहित है। सीढ़ियों पर उसके गिरने का दृश्य जिसमें लाठी आवाज के साथ नीचे गिरती है, बहुत सावधानी से परिवार की पूरी स्थिति में एक महत्वपूर्ण कारक के रूप में उसकी उपस्थिति के प्रति ध्यान आकर्षित करने के लिए गढ़ा गया है। नेत्र परीक्षा का दृश्य इससे भी अधिक काम करता है, यह केवल चाक्षुण रूप से बांधने वाला नहीं बल्कि हमें एक व्यक्ति के व्यक्तित्व में गहराई

से झांकने का उद्विग्न भाव भी प्रदान करता है ताकि उसके विरोधाभासी व्यवहार के स्रोतों का पता लगाया जा सके, उदाहरण के लिए, आरती की नौकरी का विरोध करने और उसके भूतपूर्व छात्रों से धन उधार लेने के व्यवहार का विरोधाभास) (कार्यालय में संबंध और परिवेश, महिलाओं के बीच सखी भाव जब वे धुलाई कक्ष में बातचीत करती हैं और अपने बीच की एकमात्र एंग्लो-इंडियन और अपने बारे में एक निश्चित आश्वस्ति का भाव रखने वाली महिला का नेतृत्व स्वीकार करती हैं, सब बहुत ही विश्वसनीय है।)

(इस फिल्म के बारे में बेन नाइस ने अपनी पुस्तक में टिप्पणी की है कि इस फिल्म का ढांचा इतना जटिल है कि यह नवयथार्थवाद से प्रभावित नहीं हो सकता। *बाइसिकल थीफ* या *अम्बर्टो डी* में संबंध अधिक रेखीय या सरल है, और उनका प्रतिपादन अधिक गीतात्मक है लेकिन बैंक के फेल होने और पति की विदाई के दृश्य, जैसा कि राय के साथ आम है, बाह्य अभिनय के झिझक और भय युक्त निष्पादन का संकेत देते हैं। कलकत्ता, वह महानगर जिसके नाम पर फिल्म का नामकरण किया गया है अपेक्षाकृत धुंधले रूप में पृष्ठभूमि में रहता है इसकी भीड़ और इसके तनाव पूरी तरह संप्रेषित नहीं होते। फिल्म का शुरुआती दृश्य जिसमें नीचे जाती हुई ट्राम के ऊपर के तारों को दिखाया गया है, आकर्षक और संकेतात्मक है। लेकिन यह प्रकट करता है कि वास्तविक मोहल्ला स्तरीय यथार्थ से सावधानीपूर्वक बच गया है। कार्यालय के दृश्य जो पर्याप्त यथार्थपरक हैं, सनक, भ्रष्टाचार और जटिलता की उन गहराइयों को अभिव्यक्त नहीं करते जिनको *जनअरण्य* फिल्म में राय ने सिद्धहस्तता से अभिव्यक्त किया है। तकनीकी दृष्टि से भी इसका प्रतिपादन इतना सहज नहीं है जितना कि उनकी अन्य फिल्मों में है। उदाहरण के लिए बास के कार्यालय में पृष्ठ प्रक्षेपण (बैक प्रोजेक्शन) बहुत कुछ ऐसा छोड़ देता है जो होना चाहिए। फिल्म का अंत जिसमें विराट शहर में दोनों में से एक को नौकरी मिलने का लुभावना आश्वासन है, बहुत हद तक सपाट है, लंबे समय तक हमें परेशान करने जा रही समस्या के एक आसान उपलब्ध समाधान के रूप में। अपने सौम्य आकर्षण के साथ राय की पारंपरिक महिलाओं में अधिक शक्ति और लोच है, वे पुरुषों की अपेक्षा परिवर्तन के साथ बेहतर तरीके से तालमेल बिठा सकती हैं।)

राय का विश्लेषणात्मक तरीका और कम शब्दों तथा सटीकता के साथ मानसिक घटना को अभिव्यक्त करने की उनकी क्षमता *चारुलता* में अपने शिखर पर पहुंचती है। उनका तरीका इस कथन को उचित ठहराता है कि भारतीय परंपरा में सज्जा और अभिव्यक्ति दो अलग अलग वस्तुएं न होकर एक हैं। उनका शिल्प विवरण की ऐसी उत्कृष्टता तक पहुंचता है जो कौशल को कला में, मात्रा को गुण में और सज्जा को भावनात्मक अभिव्यक्ति में बदल देता है। शायद इस बात को कहने का यह उलटा तरीका है, यह भावनात्मक

औचित्य है जो अपने आप को विवरण की उत्कृष्टता में बदल देता है, प्रत्येक छोटी-सी वस्तु को अभिव्यक्ति के साधन में बदलते हुए—केवल तथ्य की अभिव्यक्ति नहीं बल्कि भावना की विशेष स्थिति की अभिव्यक्ति भी। तत्कालीन पश्चिमी सिनेमा से *चारुलता* की ओर मुड़ना, समुद्र की ऊंची टकराती लहर के दृश्य से एक पत्थर द्वारा उत्तेजित तालाब के शीतल, स्वच्छ जल के प्रतिबिंबों में परिवर्तित होने के समान है। यदि कोई व्यक्ति अन्य हर वस्तु से अपने आप को अलग हटाने और केवल प्रतिबिंब पर ध्यान ही केंद्रित करने के लिए तैयार है तो इस प्रतिबिंब की आंतरिक हलचल ही कम बेचैनी पैदा नहीं करती।

चारुलता की कहानी 1879 में घटित होती है, उस समय जब बंगाल का पुनर्जागरण अपने शिखर की ओर बढ़ रहा होता है। स्वतंत्रता और वैयक्तिकता के पश्चिमी विचार सामंती समाज के युगों पुराने ठहराव को झकझोर रहे हैं। विचारशील लोग इन विचारों को पहले ही स्वीकार कर चुके हैं और परिवर्तनों को गति दे रहे हैं। महिला मुक्ति की बात की जा रही है, माधवी मुखर्जी में राय भारतीय महिला की ऐसी प्रतिकृति तलाशते हैं जो परंपरा और आधुनिकता के बीच खड़ी है। अत्यधिक बुद्धिमान संवेदनशील बाह्य रूप में गरिमामय और शांत, आंतरिक रूप से वह ऐसी पारंपरिक नारी है जिसका अंतर्मन बाहर से आने वाली ध्वनि तरंगों को अपने एकांत में पकड़ लेता है, बाहरी दुनिया बदल रही है, और नीचे ड्राइंगरूम में ब्रिटेन के उदारवादियों की जीत का जश्न मनाया जा रहा है। 19वीं शताब्दी के पश्चिमी सामाजिक दर्शन और राममोहन राय के विचार दृढ़ता के साथ औरत की भावी मुक्ति की ओर सक्रिय हो रहे हैं।

चारुलता का सूट और दाढ़ी वाला पति, भूपति मिल और बैनथम के उद्देश्य, स्वतंत्रता और समानता के विचारों से प्रेरित हैं। वह अपनी सामंती संपत्ति तथा अपना क्रियाशील समय *द सेन्टीनल* के माध्यम से इन विचारों के प्रचार में खर्च करता है। *द सेन्टीनल* वह उद्यम है (अखबार) जो अपने संपादक के एक तरफा वैचारिक उत्साह के चलते लड़खड़ाने को बाध्य है लेकिन परिवर्तन की हवाएं केवल उसे ही नहीं मथ रही हैं, स्वयं से अनभिज्ञ उसकी नेक हिंदू पत्नी, सुविधाजनक रूप से संतानहीन, उस आदर्श पत्नी के परंपरागत मार्ग पर और अधिक चलने में सक्षम नहीं है जो जिंदगी से सिवाय अपने पति की प्रसन्नता के और कुछ नहीं चाहती। वह उसके साथ की कामना करती है और उसके विचलन पैदा करने वाले ऐसे प्रयासों से ऊब भी जाती है जिनमें उसका पति स्वयं लिप्त नहीं है। ऐसा ही एक विचलन उसके पति का चचेरा भाई है (भारतीय भाषाओं में भाई और चचेरे भाई में कोई फर्क नहीं किया जाता) जो उसके विश्वासी पति के द्वारा पत्नी के मित्र, दार्शनिक और मार्गदर्शक के रूप में उसे सहजता से उपलब्ध करा दिया जाता है। इस व्यक्ति में वह ऐसे इंसान को पाती है जिसके साथ वह अपने विचारों का आदान-प्रदान कर सकती है और जिस पर वह अपना प्यार भी उंडेल सकती है। धीरे धीरे, अपरिहार्य रूप से और

बिना उसके संज्ञान के, पत्नी और उसके पति के भाई के बीच का पारंपरिक "मधुर और पवित्र" रिश्ता शारीरिक प्रेम में बदल जाता है। अपनी युवाजन्य आत्म मुग्धता में अमल उसे स्वयं को प्रेम करने के लिए उत्साहित करता है, लेकिन जैसे ही उसका लक्ष्य पूरा होता है और उसके अहम की तुष्टि होती है वह पलायन कर जाता है, शादी करता है और दूरस्थ शहर को जा पहुंचता है। भूपति जो अब तक अपनी पत्नी और भाई के बीच में प्रेम के पारंपरिक स्वरूप को ही देखता आ रहा था, अमल के विवाह के निर्णय और इंग्लैंड जाने की खबर को सुनकर पत्नी के रोने लगने से अचानक सत्य से साक्षात्कार करता है। रोते समय पत्नी को यह नहीं पता कि उसका पति कमरे में उसके पीछे आ गया है। टैगोर की कहानी में पति पत्नी को अपने हाल पर छोड़कर चला जाता है। राय उन दोनों को सदैव के लिए निर्जीव जीवन की स्थिति में जीने को उन्हें फिर से जोड़कर अपेक्षाकृत अधिक यथार्थपरक समाधान प्रस्तुत करते हैं। अचानक जैसे ही उनके हाथ मिलने को हैं उनकी चाल स्थिर हो जाती है जैसे कि स्थिति है यह उनके आंतरिक अलगाव को स्थायी बना देता है।

फिल्म को बनाते समय राय के मन में विषय को लेकर संदेह थे। समाज इस "अतिक्रमण" को किस रूप में लेगा? *देवी* का अंधविश्वास की कीमत पर सौम्य संकेत बाक्स आफिस पर निराशा की भेंट चढ़ गया। यदि पुत्र की पत्नी के प्रति श्वसुर के दृष्टि में फ्रायडवादी गौण तत्व को व्यापक रूप से समझ लिया गया होता तो छोटा-मोटा दंगा हो सकता था, वास्तव में *चारुलता* के निर्माण के दौरान फुसफुसाहटें शुरू हुई थीं लेकिन जैसे ही फिल्म की समालोचनात्मक प्रशंसा और बाक्स आफिस सफलता के रूप में राय की विजय दर्ज हुई, फुसफुसाहटें दब गयीं। जब बर्लिन में एक ऐसी फिल्म को कैथोलिक पुरस्कार मिला जिसमें औरत के कदम व्यभिचार की ओर बढ़े या जब वृद्ध औरतों को सिनेमा हाल से अपनी आंखें पोंछते हुए बाहर आते हुए देखा गया तो किसी को आश्चर्य नहीं हुआ। उनका एक ऐसी कथावस्तु, जो अन्यथा अग्राह्य थी, के साथ तादात्म्य का रहस्य पात्रों की निर्दोषिता में छिपा हुआ था। ये पात्र स्वयं से अधिक ताकतवर शक्तियों के जाल में फंसे होने की प्रतीति कराते थे। स्वयं उनके भीतर क्या घट रहा है इसकी सचेत जानकारी के उनके अभाव ने उन्हें एक विशेष प्रकार की श्रेष्ठता प्रदान की, वस्तुतः यह उनकी जागरूकता थी जिसमें उनकी त्रासदी निहित थी। युवा अमल सत्य को समझने वाला पहला व्यक्ति है। चारु के लिए यह अचेतन से चेतन की ओर एक अगोचर प्रस्थान है, पति के लिए यह सत्य का एक अचानक नंगा अविश्वसनीय उद्‌घाटन है। तीनों के तीनों एक प्रकार से 20वीं शताब्दी में आंखें खोलते हैं, यानी आत्मचेतना के युग में। कथावस्तु के विकास की लय इतनी सहज, निर्दोष और सत्य है कि एक रूढ़िवादी भारतीय की भावना कहीं आहत नहीं होती, जबकि राय की यह फिल्म बृहत दर्शक समुदाय के लिए उतनी ही साहसिक

थी जितनी कि अपने समय में टैगोर की कहानी थी।

राय की "बाहर शांति, भीतर आग" की पूर्वी कला की अवधारणा स्वयं चारु में बाहर अत्यधिक शांतिपूर्ण और भीतर अत्यधिक धधक लिये हुए है। तीनों में से एक मात्र वह है जो अंतःकरण के संकट से ग्रस्त नहीं है। भूपति उसे पर्याप्त समय न दे पाने के अपराधबोध से ग्रस्त है और वह अपने संकट के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा स्वयं को ही अधिक दोषी मानता है। अमल महसूस करता है कि वह अपने भाई और शुभेच्छु के साथ विश्वासघात करने वाला है और शीघ्र ही पलट लेता है। अकेली चारु ही अपनी भावनाओं को लेकर पश्चाताप मुक्त है। जब तक कि झूले वाले दृश्य में जिसमें कि वह अपने अंदर, पहली बार निषिद्ध प्यार के आलोड़न की हल्की सी अनुभूति नहीं करती तब तक उसकी आंखें बिना कोई उद्वेलन दर्शाये बनी रहती हैं, जब अमल अपने दंभ में, नंदा के प्रति अपने प्रेम का गुस्ताख प्रदर्शन करता है तो वह भावावेश में अपना आपा खो बैठती है। और उसके होंठों का रंग उड़ जाता है, बाद के दृश्यों में जैसे ही उसका अहसास तीव्र होता है उसकी आंखें स्याह हो जाती हैं और पुतलियां शेरनी की पुतलियों की तरह चमकती हैं (रूप सज्जा और प्रकाश का चतुराई भरा कौशल) जब वह अपने पति से समझौता करती है तो उसमें अपराध का बोध नहीं है, केवल वास्तविकता का स्वीकार है।

इस फिल्म में जो पूरी की पूरी दोषरहित है, कुछ ऐसे महत्वपूर्ण दृश्य भी हैं जिनका उल्लेख किया जाना चाहिए। चारु के अकेलेपन को दर्शाने वाला प्रारंभिक दृश्य शब्दरहित चरित्र चित्रण का उत्कृष्ट उदाहरण है जिसकी तुलना *जलसा घर* के दृश्य से की जा सकती है। यहां इस दृश्य को एक दूरबीन (ओपेरा ग्लास) की विकसित तकनीक द्वारा संपन्न किया गया है। फिल्म का झूले का दृश्य फिल्म का सर्वाधिक प्रभावशाली दृश्य है और रेनेवां जैसे प्रकाश छाया चित्रण से रोशन है, इस दृश्य को सूक्ष्मता से तराशा गया है जहां हर बार क्षणांश के लिए चारु का पैर जमीन का स्पर्श करता है ताकि झूले की गति को अतिरिक्त बल दिया जा सके। फिर वह क्षण है जब चारु झूले की गति को धीमा करती है अपनी दूरबीन अमल पर स्थिर करती है और, स्याह होते चेहरे के साथ, अनुभव करती है कि वह उससे प्रेम करने लगी है। राय की शब्दरहित संप्रेषण की शैली में यह एक बड़ी उपलब्धि है, बचपन के दिनों को उसके स्मृत करने के लंबे दृश्यों में, जिसमें एक खूबसूरत लय है जिसे झूले के मंददोलन के साथ उस नाव के दोलन को मिलाकर गढ़ा गया है जिसका पाल कुशलता से तैयार किया गया है और जिसमें उसका चेहरा धीरे से विलीन हो जाता है। यह एक लयात्मक स्थानांतरण है जो हमें चारु की उस मनःस्थिति के समांतर खड़ा कर देती है जिसमें वह अतीत की ललक से भरी हुई है और जिस बारे में वह लिखना चाहती है। वर्णन का यह श्रेष्ठ गुण ही राय की फिल्म को साधारण रूप रेखा के साथ कही गई कहानी से सौंदर्य की दृष्टि से ऊपर उठा देता है। फिल्म के विरोधाभासी प्रेम को एक बार

देखने के बाद मैंने अचानक महसूस किया कि यह अपेक्षित रूप से विशिष्ट शैलीबद्ध क्यों है। ऐसा इसलिए था क्योंकि अपेक्षित वातावरण की अनुपस्थिति ने प्रत्येक दृश्य की चाक्षुष विषयवस्तु का कुछ न कुछ कम कर दिया था। हर दृश्य पर्दे पर आवश्यकता से अधिक टिका हुआ दिखाई देता था। अगली बार मैंने इस फिल्म को जब अच्छे प्रिंट और उचित प्रक्षेपण (प्रोजेक्शन) में देखा तो पहले की कमी का भाव लुप्त हो गया था।

टैगोर की कहानी (*नष्ट नीड़* या *टूटा घर*) में एक पैरा है जो इस तरह है : "शायद भूपति एक स्वाभाविक भाव पाले हुए था कि अपनी पत्नी के प्रेम पर अधिकार अर्जित नहीं करना होता है उसके प्रेम का प्रकाश स्वयं उद्दीप्त होता है, बिना किसी ईंधन के, और कभी भी छितराता नहीं है।"

इन जैसे शब्दों में, जो कहानी में यहां वहां प्रेषित किये गये हैं, टैगोर एक सामंती समाज में औरत की स्थिति का समाहार प्रस्तुत करते हैं। राय की फिल्म में हमें यह देखने में अधिक समय नहीं लगता कि पति की व्यस्तता और पत्नी की ऊब उस सत्याभास के मात्र बाहरी उपादान हैं जो संक्रमणकालीन समाज में औरत के नजरियों और आकांक्षाओं में आये आंतरिक परिवर्तन को नहीं छिपाता। प्रेम की स्वतंत्रता की कामना मात्र निष्ठा के स्थान पर साहचर्य भाव की आवश्यकता, अपने आप में एक व्यक्ति होने का भाव-घटनाओं के क्रम में ये सारी धाराएं अंतःप्रवाहित हैं।

राय ने *महानगर* में इनका स्पर्श किया था और परिवर्तन की झिझक भरी हवाओं को रेखांकित किया था, दोनों फिल्मों में परिवर्तन का उपादान एक ऐसे निर्विचार पति द्वारा उपलब्ध कराया जाता है जो अपनी पत्नी को स्वयं स्वीकृत भाव में लेता है और उसे एक व्यक्ति के रूप में नहीं देख सकता। *महानगर* में परिवर्तन का उपादान वह नौकरी है जो आरती को आर्थिक स्वतंत्रता का अल्प किंतु लंबित आस्वाद कराती है। *चारुलता* में यह पति का भाई है जो चारु के युवा मन में न केवल साहित्यिक आनंद के प्रति ललक जगाता है बल्कि उस यौवन में साहचर्य की ललक भी जगाता है जो वह अपने पति के साथ नहीं पा सकती। दोनों में ही सैद्धांतिक दृष्टि से पति आधुनिक हैं, लेकिन व्यवहार में वे अपने घरों की यथास्थिति को भंग करने के अपने कार्यों की परिणतियों का पूर्वानुमान लगाने में अक्षम हैं। स्वयं अपने द्वारा निर्मित आनंद के लिए औरत की ललक के प्रति दोनों ही सुखद रूप से अनभिज्ञ हैं लेकिन जब परिवर्तन आता है तो दोनों ही पति इसे विवेक के साथ स्वीकार करते हैं।

महानगर तत्कालीन समाज की कहानी है। *चारुलता* एक कालबद्ध रचना है तथापि राय का वक्तव्य *चारुलता* में अधिक गहराई के साथ सामने आता है। इसकी लघु कलाकृति जैसी छवियां गहरी संवेदनशीलता, स्वायत्ता और संतुलन लिये हुए हैं। इसकी लय कभी लड़खड़ाती नहीं और राय का स्वयं का संगीत ज्ञान, *तीन कन्या* और *कंचनजंघा* में श्रेष्ठ

और रोचक है, जो पहली बार उनके फिल्म की विषयवस्तु के निर्माण का एक मुख्य उपादान बनता है। इसका शीर्षक भी (जिसका रूपांतरण फिल्म में पुनरावृत होता है) टैगोर द्वारा रचित गीत से लिया गया है। गीत के शब्द चारु के मन की बेचैनी का संकेत देने में इतने सटीक हैं कि कोई यह धारणा बना सकता है कि ये शब्द ही थे जिन्होंने राय को इस विशेष रचना पर सोचने के लिए बाध्य किया। फिल्म की एक और संगीत धुन उस स्काटिश राग से ली गई है जिसे टैगोर ने पहले अमल और चारु द्वारा फिल्म में साथ साथ गाये गये गीत के आधार के रूप में प्रयोग किया था। टैगोर का यह पहला मूल भाव है जो *पाथेर पांचाली* के लोकगीत की तरह प्रखर प्रभाव छोड़ता है।

उत्कृष्ट काल-दृष्टि राय की अपनी है और फिल्म को उस कहानी से अलग करती है जिसमें टैगोर इसे स्वयं स्वीकृत मानते हैं। धूपमय बगीचा, झूला, फुलकारी, दरवाजे और दीवारों पर पुष्पांकन, घोड़े वाली बग्गी, बंसी कौल द्वारा रचित आह्वानकारी दृश्यबंध उत्कृष्ट सज्जा विधान से कहीं अधिक हैं। वे अभिनय को गढ़ते हैं और इसे एक फासले पर भी रखते हैं—अभिप्राय या चिंतन मनन का फासला।

6

अनिश्चय और एक नयी खोज : *चारुलता* के बाद का काल

माधवी मुखर्जी की आंखें *कापुरुष* (*कापुरुष ओ महापुरुष* में पहली कहानी, 1965) में वैसे ही स्याह ढंग से चमकती हैं जैसे कि *चारुलता* में। वहीं केंद्रीय पात्र वैसी ही परिस्थिति में प्रक्षेपित किया गया है, उसकी शादी अब एक निष्तेज चाय बागान के मालिक से हो चुकी है और वह एक ऐसे व्यक्ति के साथ जिसे वह प्यार नहीं करती, निर्जीव जिंदगी जीने के बजाय आधुनिक और सुख सुविधायुक्त समय में जी रही है। उसका पुराना प्रेमी संयोगवश अचानक प्रकट हो जाता है, यह ठीक उस तरह है मानो *चारुलता* के अमल का पुनरावतार हुआ हो और वह उसके पास उस समय आया हो जबकि वह अपने पति के साथ समझौतापूर्ण जीवन शुरू कर चुकी हो। एक बार फिर वह (स्त्री) उसकी ओर आकर्षित होती है और एक बार फिर वह पुरुष स्वयं को समाज की अवज्ञा करने में असमर्थ पाता है। वह (स्त्री) इसके विपरीत समय के साथ पहले से अधिक मजबूत हो गयी है, अपने कालेज के पुराने दिनों में, वह अपनी ओर से शादी का प्रस्ताव रखती है और वह (पुरुष) कतरा जाता है। जब वह (पुरुष) संयोगवश उसे (स्त्री को) फिर देखता है तो वह *चारुलता* जैसी ही लापरवाही और वैसे ही पुरुष दंभ के साथ एक बार फिर उसे (स्त्री) अपने प्रेम में फंसाने की कोशिश करता है। इस बार वह (स्त्री) अधिक चतुर है, वह जानती है कि वह (पुरुष) कितना कमजोर है। वह (स्त्री) यह देखने के लिए पलट लेती है कि क्या यह (पुरुष) व्यक्ति यह जानकर कि वह (स्त्री) उसके साथ नहीं जा रही, राहत महसूस करेगा, वह पाती है कि उसका अनुमान एकदम ठीक था। वह (स्त्री) उससे (पुरुष) नींद की गोलियों की शीशी मांगती है जो उसने (स्त्री) पहले उसे दी थी, उसके बाद वह अंधेरे में गुम हो जाती है। माधवी मुखर्जी का अभिनय यहां हमेशा की तरह ही जानदार है, उसकी तुलना में सौमित्र चटर्जी का अभिनय निर्जीव है, फिल्म का निर्माण भी *चारुलता* के मानकों की तुलना में साधारण है। यह अपने बहुत कुछ तीखेपन के बावजूद अपेक्षाकृत निर्जीव और ढांचाबद्ध है। एक कुलीन घर की खूबसूरत आंतरिक सज्जा का स्थान भंगुर नव-धनाढ्य वातावरण ने ले लिया है, कुल मिलाकर *कापुरुष* उन पूर्व फिल्मों की कमजोर
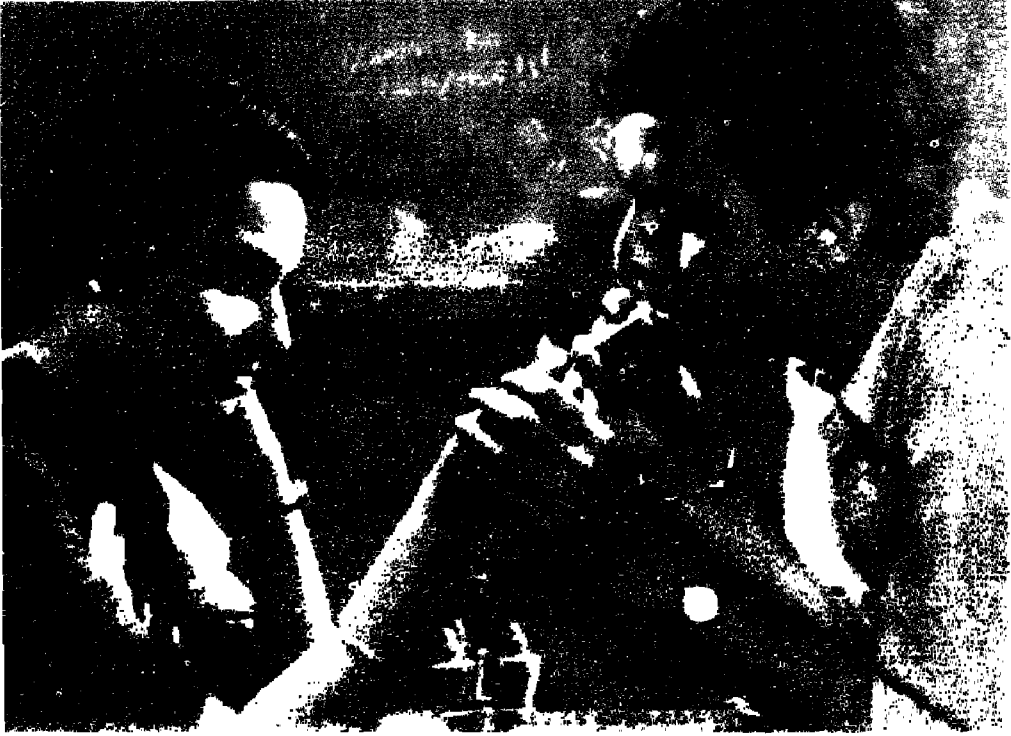
ऊपर : *कापुरुष-ओ-महापुरुष* : प्रेमी (कापुरुष में) जो कि वे कभी थे (माधवी मुखर्जी तथा सौमित्र चटर्जी)

नीचे : *कापुरुष-ओ-महापुरुष* : अचानक ही सालों बाद प्रेमी युगल फिर मिलते हैं (*कापुरुष में*) सालों पहले लड़का जब कुछ कहने में कापुरुष सिद्ध हुआ तो लड़की ने कहीं और शादी कर ली।

ऊपर : *कापुरुष-ओ-महापुरुष*: साधू बाबा (चारु प्रकाश घोष) अपने चेले (रवि घोष) के साथ *महापुरुष* में

नीचे : *कापुरुष-ओ-महापुरुष* : साधू बाबा अपने एक भक्त और रिश्तेदार के साथ

ऊपर : *नायक* : अदिती (शर्मिला टैगोर) जिस पत्रिका में काम करती है, उसकी एक प्रति अरिंदम (उत्तम कुमार) को देते हुए

नीचे : *नायक* : उसकी ओर से पहले उपेक्षा सहने के बाद, अदिती को महसूस होने लगता है कि वह अरिंदम के बारे में सोचने लगी है, जिससे वह अपने एक सहयात्री के अनुरोध पर साक्षात्कार लेती है।

चिड़ियाखाना : जासूस (उत्तम कुमार, दायें) और उसका सहायक (शैलेन मुखर्जी)

ऊपर : *गोपी गायने बाघा बायने* : गोपी (तपन चटर्जी) और बाघा (रवि घोष) एक बुरे राजा के साम्राज्य में पकड़ लिये जाते हैं।

नीचे : *गोपी गायने बाघा बायने* : गोपी और बाघा अच्छे राजा (संतोष दत्ता) के साथ

ऊपर : *गोपी गायने बाघा बायने* : गोपी और बाघा लोगों को नाचने-गाने पर मजबूर कर देते हैं।

नीचे : *अरण्येर दिन रात्रि* : छुट्टी पर आये तीन मित्र हरिनाथ, शेखर और असीम (समित भंज, रवि घोष और सौमित्र चटर्जी क्रमशः) तथा आदिवासी नौकरानी (सिमी ग्रेवाल) जंगल के बंगले में।

अरण्येर दिन रात्रि : असीम अपर्णा (शर्मिला टैगोर) की ओर आकर्षित हो जाता है।

पुनरावृत्ति है जिनका अंत अपनी स्वतंत्रता की खोज में बाधित और आहत तथा अपेक्षाकृत अधिक बुद्धिमान औरत द्वारा अपने स्वच्छंदतावादी प्रेमी के अस्वीकार में होता है। नयी उभरती औरत की विषयवस्तु वाली शृंखला के एक भाग के रूप में ही *कापुरुष* का महत्व निहित है। *महानगर* में वह अपनी आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त करती है और उसे बनाये रखने का प्रयास करती है, *चारुलता* में वह प्रेम का अधिकार प्राप्त करती है, *कापुरुष* इन दोनों को प्राप्त करने में उसकी असफलता को उजागर करती है। यह संयोग नहीं कि इन सभी फिल्मों में औरत की भूमिका माधवी मुखर्जी ने निभाई है। इन फिल्मों में माधवी मुखर्जी उस मध्यवर्गीय बंगाली महिला का प्रतिनिधित्व करती है जो स्वयं अपने आप पर, अपने अधिकारों पर, बदलते समाज में अपनी हैसियत पर नजर रखे हुए है। पहली नजर में वह पड़ोस में रहने वाली घरेलू औरत का आभास कराती है, लेकिन शीघ्र ही अत्यधिक आकर्षक, तथा अत्यधिक अंतर्निहित ऊर्जा वाली औरत में बदल जाती है। यह अलग बात है कि ये गुण अभी उसे कहीं नहीं पहुंचाते लेकिन इनसे भी अधिक *कापुरुष* पुरुष की कमजोरी और आत्म पवित्रीकरण जैसे रूप में, वह जो कुछ है उसके प्रति खेद पर अधिक जोर देती है। औरत को उत्तेजित करने और फिर उसे स्थानच्युत करने के पुरुष के कुशल प्रयास वाली यह विषयवस्तु *अरण्येर दिनरात्रि* में फिर उजागर होती है। समाज का भय, अपने भीतर की कायरता की पहचान और एक औरत को फुसलाने की बाध्यता का भाव, दायित्व से पलायन के कारणों में से कुछ हैं। संजय उस समय बुरी तरह घबरा जाता है जब अकेली विधवा पूरे खुलेपन के साथ स्वयं को उसके आगे प्रस्तावित करती है। असीम अपर्णा को दैहिक समझौते के लिए तैयार करता है, लेकिन अपर्णा भी पुरुष के ऐसे प्रयासों की गैरजिम्मेदारी और अविश्वसनीयता के प्रति सचेत है, ऐसे प्रयासों की स्थितियां समाज से अलगाव में विशेष रूप से पैदा होती हैं। अपर्णा, ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अपने पूर्व अवतारों में चारु और करुणा थी। अंतर केवल यह है कि उसकी भूमिका माधवी मुखर्जी द्वारा अभिनीत नहीं की गई है। अगर यह भूमिका भी माधवी मुखर्जी ने निभाई होती तो कैसा प्रतीत होता? कोई भी इसके बारे में नहीं जान पायेगा क्योंकि *कापुरुष* के बाद माधवी मुखर्जी राय की फिल्मों में फिर कभी नहीं आईं। वह अभिनय जारी रखे रही और वस्तुतः उसकी कुछ भूमिकाएं *चारुलता* की स्मृति छाया के रूप में आईं, जैसे कि पूर्णेन्दु पात्रेय की फिल्मों में, लेकिन राय की फिल्मों में फिर कभी नहीं।

हालांकि *चारुलता* के आगे फीकी दिखने के बावजूद *कापुरुष* फिल्म की अपनी खूबियां हैं। करुणा और अमिताभ के प्रेम प्रसंग वाले फ्लैश बैक को बहुत खूबसूरती से फिल्माया गया है, इसमें यौन व्यवहार संबंधी तात्कालिक रूपों को उतनी ही खूबसूरती से फिल्मांकित किया गया है जितनी खूबसूरती से *चारुलता* में प्रेम के विक्टोरियाई रूप को। करुणा के

अपने दरवाजे के नीचे रोशनी में उसकी छाया का आगे-पीछे हिलना सिनेमाई अवलोकन का एक उत्कृष्ट दृश्य है और उसके (करुणा) अमिताभ के अत्यधिक निकट होने तथा उसकी उपस्थिति को अमिताभ द्वारा गहराई से महसूस किये जाने को खूबसूरती से रेखांकित करता है। स्टेशन वाला अंतिम दृश्य भी अतिसंवेदनात्मक है, यह दो प्रेमियों के हमेशा के लिए अलग होने का, जबकि संयोगवश वे दोनों एक बार फिर मिले हैं, बहुत ही मार्मिक क्षण है।

कापुरुष के लगभग कटुतापूर्ण अंत के बाद भी *महापुरुष* (फिल्म के दूसरे भाग की कहानी) की अधमनी और अनुपयुक्त खर मस्ती को स्वीकार करना कठिन है। राय का व्यंग्य हमेशा प्रभावकारी होता है लेकिन उनकी विनोदप्रियता में उनके पिता की उस प्रतिभा का अभाव दिखता है जिसमें वे मौज मस्ती और मूर्खता, असंगत, कटुता और विद्रूप का आनंददायी मिश्रण तैयार कर दिया करते थे। राय का हास्य टैगोर के अपेक्षाकृत साहित्यिक और दिखावटी हास्य के अधिक नजदीक है जो आत्मसजगता की बाधाओं को पार करने में हमेशा असफल रहता है। सहज ऊष्म अट्टहास और उदासी मिला हुआ संयोगात्मक परिस्थितिजन्य हास्य, जैसा कि *पारस पत्थर* या *समाप्ति* में है, उनके काम में सहजता से आता है। लेकिन जब कभी भी वे प्रहसन शैली में अभिनय के स्तर पर हास्य पैदा करने की कोशिश करते हैं तो परिणाम एक बेतुकेपन और बचकानी समानता के रूप में सामने आता है—*पारस पत्थर* में तेज गति (एक्शन) के दौरान नौकर का बार बार कपड़े बदलना, समाप्ति में भावी दूल्हे का खांस कर भोजन को दादा के गंजे सिर पर गिराना इसी के उदाहरण हैं। *महापुरुष* में वे राजशेखर बोस, राय के पिता के अलावा बंगाल के एक अन्य महान हास्य लेखक, के शानदार मौखिक प्रहसन के समकक्ष आने में असफल रहते हैं। राजशेखर बोस वितंडा और वास्तविकता या भारी भरकम और पतले दुबले के बीच एक मायावी विरोधाभास रच सकते थे तथा साथ ही इसमें व्यंग्य और तीखा हास्य भी सहजता से मिला सकते थे। राय इस गुण की बराबरी कभी नहीं कर सके। प्रायः राय की फिल्म अपने साहित्यिक मूल पाठों के सुधार के रूप में ही सामने आई। टैगोर, विभूति भूषण या तारा- शंकर जैसे लेखकों की रचनाओं के साथ भी यही था लेकिन राजशेखर बोस के मामले में, विशेष तौर पर *महापुरुष* जैसी प्रत्यक्ष और प्रभावी ठहाकेदार कहानी में, राय को अपने वाटर लू का सामना पड़ता है। *महापुरुष* दरअसल उस ढलान की शुरुआत है जो *चिड़ियाखाना* (1967) तक पहुंचती है यानी एक शानदार और उत्कृष्ट फिल्मों की एक शृंखला के बाद भावनात्मक थकान का दौर। यह ऐसा था मानो उनके पास कहने को अब कुछ न रहा हो, एक पुराने फिल्मी गीत में जो जासूसी कहानी में सूत्र के रूप में प्रयुक्त हुआ है, वाले कुछ आकर्षक दृश्य के अलावा *चिड़ियाखाना* को किसी भी पहलू से राय की फिल्म के रूप में पहचानना कठिन है।

अपनी कार्य यात्रा के अधोबिंदु तक पहुंचने से पूर्व राय ने *नायक* (1966) का निर्माण किया, इसकी कहानी स्वयं उन्होंने लिखी थी और इसमें नायक के रूप में बंगाल के प्रतिभाशाली सिने अभिनेता उत्तम कुमार को लिया गया था। *कंचनजंघा* की तरह वे एक बार फिर श्रेष्ठ सम्मिति पूर्ण कसे हुए और वर्गाकार ढांचे का निर्माण करते हैं। फिल्म का समूचा अभिनय नायक का अपनी एक भूमिका के लिए पुरस्कार लेने जाने की दिल्ली की एक रात के रेल यात्रा के दौरान घटित होता है। उत्तम कुमार जो समुचित बौद्धिकता, विनम्रता और लोकप्रियता वाले अभिनेता हैं, एक तरह से स्वयं अपने आपको ही अभिनीत कर रहे हैं। शर्मिला टैगोर जो बाद में अखिल भारतीय हिंदी फिल्मों की एक बड़ी स्टार बनी, यहां एक पत्रकार की भूमिका में है, जो उसी रेलगाड़ी में यात्रा कर रही है और फिल्म अभिनेता का साक्षात्कार लेती है। हालांकि चश्मेवाली उच्च बौद्धिक लोकप्रिय अभिनेताओं के प्रति कुछ कुछ नफरत भाव रखने वाली अदिति सेन गुप्ता को उसके सहयात्री मित्रों द्वारा जो अपने आपको एक भव्य अभिनेता के साथ पाकर रोमांचित है, उसे अभिनेता का साक्षात्कार लेने के लिए राजी कर लेते हैं। शुरू शुरू में अरिंदम मुखर्जी, शराब-व्यसनी और निद्रा रोगी अभिनेता, जो हर हालत को स्वयं में भयानक आत्म से साक्षात्कार करता रहता है, अदिति के घृणा भाव का उत्तर उसी भाव से देता है। लेकिन बाद में साक्षात्कार देने के लिए तैयार हो जाता है और साक्षात्कार लेने वाली की ताजगी पर मुग्ध हो जाता है। अदिति भी उसके चमकदार बाहरी आवरण के भीतर से झांकती मानवीय आत्मा के प्रति आकर्षित हो जाती है लेकिन रेलगाड़ी अपने गंतव्य तक बहुत जल्दी पहुंच जाती है, और साक्षात्कार लेने वाली युवा लड़की जो इस नायक से अत्यधिक निजी बातें निकलवाने में सफल रही है अपने विवरणों को फाड़ देती है। उसने उस अभिनेता में एक अतिसंवेदनशील और आकर्षक मनुष्य की तलाश की है और वह अपनी पत्रिका में उसकी निजी समस्याओं को प्रकाशित करने की इच्छा नहीं रखती। साक्षात्कार के साथ फ्लैश बैक, दो स्वप्न दृश्य और साथी यात्रियों के साथ संक्षिप्त बातचीत–जिनकी अपनी अपनी कहानियां हैं, के माध्यम से अरिंदम के निजी जीवन को कुशलता के साथ रचा गया है।

नायक और *कंचनजंघा* में गहरी समानता है। पहाड़ की भव्यता को फिल्मी नायक की भव्यता से स्थानांतरित किया गया है। फिल्म के पात्रों की दृष्टि से और देखने वाले दर्शकों की दृष्टि से फिल्मी अभिनेता को वैसी ही प्रतिष्ठा प्राप्त है जैसी कि *कंचनजंघा* में। स्थान दार्जिलिंग की जगह रेलगाड़ी, दोनों ही स्थान पात्रों को नियमित दैनिक जीवन से काटते हैं और संक्षिप्त अवधि के लिए उन्हें एक साथ कर देते हैं। दैनिक जीवन से अलगाव दोनों ही मामलों में उनकी निजी समस्याओं को सतह पर लाने में मदद करता है। रंग और निरंतर परिवर्तित प्रकाश के स्थान पर यहां रेलगाड़ी की स्थायी गति है। इसका अतिरिक्त पहलू इसकी बदलती ध्वनियां हैं।

इस फिल्म की संरचना और विकास बहुत कौशल से किया गया है। इसकी गति उतनी ही तीव्र है जितनी कि भागती हुई रेलगाड़ी, जिस पर यह फिल्म अभिनीत की गई है। समय निर्धारण और ध्वनि के प्रयोग की समझ श्रेष्ठतम है। लगभग स्टूडियो निर्मित इस फिल्म में रेलगाड़ी का भ्रम आदर्श रूप में निर्मित किया गया है। इसके दृश्य खूबसूरत कम हैं लेकिन अधिक कुशलता से उतारे गये हैं, इसमें सज्जा जैसा कुछ नहीं है, और इसकी समूची अनुभूति ताजगी पूर्ण "आधुनिक" है—फिल्मांकन में भी नये तत्व हैं। डायनिंग कार में नायक और साक्षात्कारकर्ता लड़की के बीच कैमरे का आगे-पीछे घूमना, रात्रि में गाड़ियों का एक दूसरे की बगल से गुजरना। जिस समय नायक के मन में आत्महत्या का भाव है उस समय चमकते हुए रेलपथ का तेजी से पीछे छूटना, ऊपरी सीट से बीमार लड़की का लगातार देखते जाना।

एक नायक को रूढ़ चरित्र से एक व्यक्ति में बदलने की प्रक्रिया में ही, अपने श्रेष्ठ फिल्म कौशल से राय नायक के उस आंतरिक खालीपन को प्रकट करते हैं जो इस दौर में उसे ग्रस्तता हुआ प्रतीत होता है। अरिंदम मुखर्जी के नायक रूप में से जिस व्यक्ति को प्रकट करने की वे कोशिश करते हैं वह अपने बाह्य व्यक्तित्व की तुलना में कहीं अधिक जटिल है। उसकी शराबखोरी, मृत्यु की कामना, नाटक जैसी अधिक शुद्ध कला और पूर्व वामपंथी संबंधों को छोड़ देने का अपराधबोध। ये सब कमोबेश फिल्म नायक के बारे में प्रचलित लोक गाथाओं का हिस्सा है। इसके रचना तत्व सहज और सामान्य से बने हैं, इसमें निजी दर्शन नहीं है। दो स्वप्न दृश्य जन मनोविज्ञान के निरूपण के सामान्य प्रयास हैं, वे अरिंदम के स्वप्न नहीं हैं, वे ऐसे स्वप्न हैं जिन्हें जनता समझती है कि उसे देखने चाहिए। नंगे पुरुष पोस्टरों से लेकर मार्लिन मुनरो की जनता द्वारा की जाने वाली चीर-फाड़ तक फिल्मी सितारों के प्रति मौजूदा प्रतिक्रियाओं का एक संपूर्ण परिदृश्य यहां मौजूद है। सितारों के साथ साथ हमारे समय के कुछ अन्य विशेष उत्पाद भी हैं—ढीठ विज्ञापन अधिकारी, दुनिया घूमने वाला व्यापारी, धर्म का इत्र छिड़कने वाला विक्रेता। हमेशा की तरह रूढ़ चरित्रों का अवलोकन बेहतर तरीके से हुआ है और उन्हें खूबसूरती से अभिनीत भी किया गया है, उनके रिश्तों का सृजन—जैसे कि विज्ञापन अधिकारी और उसकी पत्नी, बीमार बच्चा और उसकी मां, जो दोनों ही फिल्म अभिनेता से अभिभूत हैं, अदिति के मित्र पति और पत्नी के बीच—बहुत कुशलता से किया गया है और इन संबंधों के बीच मानवीय ऊष्मा के क्षण भी उपलब्ध होते हैं। (हालांकि विज्ञापन अधिकारी द्वारा अपनी पत्नी की खूबसूरती का उपयोग अतिरंजित है) लेकिन केंद्रीय पात्र के बारे में ऊष्मायुक्त निजी समझ के अभाव में ये सारी विशेषताएं फिल्म को इसकी कमजोरी से नहीं बचा पातीं। फिल्मी अभिनेता एक ऐसा रूढ़ चरित्र है जिसे राय पसंद नहीं करते और वे अपनी इस बाधा से उबर नहीं सकते। वह कुछ कुछ *कंचनजंघा* के राय बहादुर

की तरह है जो उन मूल्यों का प्रतिनिधित्व करता है जिन्हें उसका रचयिता पसंद नहीं करता। अपनी पहले की श्रेष्ठ फिल्मों में राय ने उन लोगों को संभाला जिनके प्रति वे स्वभाविक रूप से आकर्षक होते थे या जिनके प्रति उनके मन में करुणा होती थी और इसी कारण वे उन्हें भीतर से परख सकते थे। *नायक* में राय स्वयं को बाह्य के प्रति ही अधिक उत्सुक प्रतीत होते हैं, और वे उन्हें ऐसे अर्थों में प्रयुक्त करते हुए प्रतीत होते हैं जिन्हें वे पूरी तरह से अभिव्यक्त नहीं करते।

तथापि *कंचनजंघा* में वे हमें आडंबर प्रिय राय बहादुर पर मृदुल हंसी हंसने के लिए बाध्य कर देते हैं। *नायक* में समस्या यह है कि राय सिने नायक को हास्यास्पद और करुण दोनों ही बनाना चाहते हैं, और वह व्यक्ति दोनों में से कुछ भी नहीं बना पाता। इस चरित्र को सतह के नीचे अन्वेषित करने का प्रयास ठप्पों से नकली हो जाता है। सिने नायक के प्रति उसके प्रशंसकों के दृष्टिकोण में ही राय का अवलोकन अपने लक्ष्य को पूर्णता से उपलब्ध करता है, स्वयं नायक भी मनुष्य की भीतरी गहराई को अभिव्यक्त करने में असफल रहा है। केवल युवा पत्रकार के साथ संबंध में गहराई महसूस होती है, इस संबंध को अपेक्षाकृत कमतर समझ और श्लेष के खूबसूरत मिश्रण के माध्यम से विकसित किया गया है। वे कभी भी यह नहीं समझ पाये कि पश्चिमी समीक्षकों ने इस फिल्म को अस्वीकार क्यों कर दिया। बर्लिन फिल्म समारोह में इस फिल्म के प्रदर्शन के तुरंत बाद राय ने मुझसे कहा था, "वे सामयिक विषयों पर हमारा फिल्म बनाना पसंद नहीं करते—यह ऐसी गलतफहमी थी जो आने वाली *डेज एंड नाइट्स* और *तीन शहरी* फिल्मों के साथ गलत सिद्ध हुई। *समारोह* (1966) में राय को उनके काम की संपूर्णता के लिए पुरस्कृत किया गया था, *नायक* के लिए नहीं। *महानगर* और *चारुलता,* जिन दोनों को ही बर्लिन में श्रेष्ठ निर्देशक पुरस्कार मिल चुका था, की शानदार उपलब्धियों के बाद *नायक* का पुरस्कृत न होना राय के प्रशंसकों के लिए हैरानी की बात थी।

यहां यह उल्लेखनीय है कि *नायक* उनकी ऐसी अंतिम फिल्म थी जिसमें राय ने अपने कैमरामैन के रूप में सुब्रत मित्रा के साथ काम किया था। दोनों के अलग अलग हो जाने के बाद इसे स्वीकारा जाना चाहिए, राय की फिल्मों में छायांकन की वह गुणवत्ता नहीं आई, यद्यपि उनका छायांकन न केवल स्वीकार्य बल्कि अच्छा भी बना।

महापुरुष के साथ साथ, *चिड़ियाखाना* (1967) ऐसी फिल्मे हैं जिसे राय की कृति के रूप में स्वीकार करना किसी के लिए भी कठिन हो सकता है। इसको राय के एक सहायक द्वारा निर्देशित किया जाना था लेकिन निर्माता के दबाव के कारण स्वयं राय को इसे अपने हाथ में लेना पड़ा था। एक दृश्य को छोड़कर जैसा कि पहले कहा गया है समूची फिल्म एक सामान्य औसत बंगाली फिल्म के स्तर पर चलती है, यदि *नायक* में इसके खूबसूरत

शिल्प और मानवीय पहलुओं के पीछे सामान्य स्तरीयता है तो इसके बाद आने वाली फिल्म इनसे भी वंचित है। *चिड़ियाखाना* राय के रचनात्मक विकास में बंजर मौसम का संकेत है, शायद उन्होंने एक सामान्य जासूसी कहानी को एक पलायन के रूप में लिखा था और ऐसा करने में वे इसे बेहतर बनाने के लिए रचनात्मक ऊर्जा का आह्वान नहीं कर सके (1978 में बनी *जय बाबा फेलूनाथ,* जो कि एक अपराध कथा है, की खूबसूरती से इसकी तुलना करें)। लगभग 10 वर्ष तक सामाजिक, भावनात्मक, तथा संरचनात्मक दृष्टि से उन्होंने महत्वपूर्ण और उत्कृष्ट फिल्मों का निर्माण किया, उनमें से कुछ जैसे कि *त्रयी, जलसा घर, देवी, महानगर* और *चारुलता* सिनेमा की उत्कृष्ट कृतियां हैं। पहली फिल्मों में एक आंतरिक दीप्ति प्रकाशित होती दिखती थी जो बाद में मंद होती प्रतीत हुई।

लेकिन *चारुलता* के बाद के काल में राय ने जिस चीज का सामना किया वह भावनात्मक रिक्तता और थकान से कहीं अधिक थी। यह स्पष्ट हुआ कि उनकी सार्वभौमिक दृष्टि भारतीय पुनर्जागरण द्वारा निर्मित स्वतंत्रता पूर्व की दृष्टि का विस्तार थी। एक शताब्दी से भी अधिक तक फैले कालखंड में आये सामाजिक परिवर्तन के वे महान इतिहासकार थे। उन्होंने इसे संपूर्णता में देखा क्योंकि यह देखना एक फासले से था। लेकिन इस फासले ने उन्हें वस्तुओं की तात्कालिक वास्तविकता खासतौर से तत्कालीन समाज की वास्तविकता से दूर रखा। स्वयं अपने लिखे हुए का उद्धरण (*साइट एंड साउंड,* विंटर 1966-67)—

> जलती हुई ट्रामों, सांप्रदायिक दंगों, बेरोजगारी, बढ़ती हुई कीमतों, खाद्य की कमी वाला कलकत्ता राय की फिल्मों में मौजूद नहीं है, हालांकि राय इस शहर में रह रहे होते हैं लेकिन उनके और "पीड़ा का काव्य" के बीच जो कि पिछले दस वर्षों से बंग्ला साहित्य पर छाया हुआ है, कोई संबंध नहीं है।

जैसे जैसे वक्त गुजरता गया राय के प्रति यह शिकायत एक फुसफुसाहट के स्तर से बढ़कर कर्ण कटु शोर में बदल गयी। *कापुरुष* और *महापुरुष* को महत्वहीन मानकर नकार दिया गया : *नायक* बाक्स आफिस पर सफल नहीं हुई और *चिड़ियाखाना* टिप्पणी के योग्य नहीं मानी गयी। बंगाल तथा अन्य स्थानों के कुछ समूहों ने ऋत्विक घटक के काम में अधिक जीवंत समसामयिकता को देखना शुरू कर दिया। घटक की *अजांत्रिक* (1958), अपने बहुत ही (अभियान के ड्राइवर की तुलना में) विश्वसनीय टैक्सी ड्राइवर के साथ, *मेघे ढाका तारा* (1960) पूर्वी पाकिस्तान से आये शरणार्थियों के जीवन की तीखी तस्वीर और अंत में "मैं जीना चाहता हूं" कि ऊंची आवाज के साथ और अंततः *स्वर्ण रेखा* (1965) ने अपनी प्रबल स्पष्टता और पतित क्रांतिकारियों की तीखी विडंबना के साथ, बंग्ला मानस पर गहरा प्रभाव छोड़ा। जब राय की प्रेरणा धीमी हो रही थी तब घटक

को बंगाली सिनेमा के वास्तविक भविष्य का प्रतिनिधित्व करने वाले कहीं अधिक महान व्यक्तित्व के रूप में स्थापित करने के जोरदार दावे किये गये। विदेशों में घटक की पहचान बहुत कम थी जबकि राय अपनी पूर्व फिल्मों के बल पर, भारत की तुलना में कहीं अधिक विदेशों में कद ऊंचा बना रहे थे। मृणाल सेन *भुवन शोम* (1969), हिंदी में, के साथ अखिल भारतीय परिदृश्य पर रोशनी में आये। उनके नव-फ्रांसीसी सिनेमा के प्रति लगाव ने अंततः एक ऐसी शैली का विकास किया जो सत्यजीत राय की शैली से भिन्न थी।

इन सबने राय को कितना प्रभावित किया यह कहना कठिन है और इसका अनुमान लगाना निरर्थक है।

पाथेर पांचाली और *अपराजितो* के बाद राय *पारस पत्थर* की कामेडी और *जलसा घर* की नवतकनीक की ओर मुड़े। अपने अपने तरीके से दोनों ही फिल्में श्रेष्ठ थीं। लेकिन *अपुर संसार* और *देवी* की तुलना में उनके प्रतिपादन को हल्का ही माना जा सकता है, लेकिन उस समय युवा सत्यजीत राय अपनी क्षमताओं के मूल्यांकन के लिए विभिन्न वस्तुओं पर हाथ आजमा रहे थे। कोई कह सकता है कि अपनी स्वयं की अभिरुचियों को जानकर राय *चारुलता* के काल तक उनके साथ निष्ठा से बंधे रहे। सभी फिल्में प्रत्यक्ष सामाजिक महत्व की हैं, इनमें एक स्पष्ट मानववादी दृष्टिकोण है (संभावित अपवाद *मनिहार* है जो भयावह के क्षेत्र में उनका पहला और एकमात्र प्रयास थी) और अपने उद्देश्य की गंभीरता के लिए पहचानी जाती हैं। इन फिल्मों ने राय के समूचे व्यक्तित्व को, अपने अपने तरीके से समाहित किया हुआ था और सभी फिल्में जबरदस्त असमझौतावादी प्रवृत्ति लिए हुए हैं। अचानक ही यह सब ढीला पड़ता हुआ दिखाई दिया और इसने एक महान फिल्म निर्माता के रूप में उनके भविष्य को ही खतरे में डाल दिया।

1961 में *कापुरुष* और *महापुरुष* से चार वर्ष पहले, सत्यजीत राय जो उस समय अपनी ख्याति के शिखर पर थे *संदेश* को पुनर्जीवित करने का निर्णय लिया था। *संदेश* वह प्रसिद्ध बाल पत्रिका थी जिसकी शुरुआत उनके दादा ने की थी और जिसे उनके पिता अपनी मृत्यु तक लगातार जारी रखे हुए थे। बंगालियों की कई पीढ़ियां इस पत्रिका को पढ़कर बड़ी हुई थीं। पत्रिका की सामग्री, इसके संपादकों और राय परिवार के सदस्यों द्वारा लिखी जाती थी। पत्रिका का रेखांकन भी राय परिवार के सदस्य प्रमुख रूप से उपेन्द्र किशोर और सुकुमार राय करते थे। वास्तव में यह परिवार कई पीढ़ियों तक बाल साहित्य के लेखन, प्रकाशन में महत्वपूर्ण योगदान करता रहा था। इन तीनों ही क्षेत्रों में इस परिवार ने रचनात्मकता के उच्च मानक स्थापित किये थे। सत्यजीत राय अपनी पारिवारिक विरासत (पत्रिका प्रकाशन) की ओर मुड़कर शायद गतिरोध जैसी दिखने वाली स्थिति को तोड़ना चाहते थे, तभी उनके मन में *संदेश* के प्रकाशन का विचार आया था। अनेक बाल पुस्तकों (*पाथेर पांचाली* के एक संक्षिप्त संस्करण सहित) का रेखांकन कर चुकने का अनुभव रखने

वाले सत्यजीत राय स्वयं अच्छे चित्रकार थे। ऐसा कोई कारण नहीं था कि वह उस महान परंपरा को सिनेमा की ओर न मोड़ते, जिसमें वह अपने लिए शरण तलाश करते थे और इस तरह के काम को हाथ में लेकर, अपनी रचनात्मक ऊर्जा के ढलने की स्थिति में उसे पुनर्जीवित कर सकते थे, या इसके वापस आने की प्रतीक्षा कर सकते थे, जहां तक कि वयस्क दुनिया की बड़ी बड़ी समस्याओं का सवाल था।

इसका परिणाम *गोपी गायने, बाघा बायने* (1968) के निर्माण में हुआ। यह उपेन्द्र किशोर राय चौधरी द्वारा लिखित मनोरंजन फंतासी पर आधारित थी। बच्चों की दुनिया में, वे मूल्य जो राय ने टैगोरवादी आदर्शों से बनी पहले की दुनिया से प्राप्त किये थे, पूरी तरह समाप्त नहीं हुए थे। राय की बाल फिल्मों में वह निर्दोषिता और अपने होने का वह श्रेष्ठ भाव है जो उनकी प्रारंभिक वयस्क फिल्मों में था। आत्म सजगता का भाव प्रायः अपु और परेश बाबू, विश्वंभर राय और काली किंकर राय, आरती और चारुलता में समान रूप से मौजूद प्रवृत्ति है। वे सब बच्चों और जानवरों की तरह अपने आप में तल्लीन हैं, पूरी तरह अपने अपने भाग्य विधानों से जुड़े रहे। बच्चों की फिल्मों में मनुष्येतर जो भी प्राणी मिलते हैं वे परी कथा रूप में मिलते हैं, राय की इन फिल्मों में आनंद की एक गोपन अनुभूति छिपी रहती है। इनमें *मौजाटवादी* संगीत का गुण है जहां बच्चे बुराई से प्रभावित नहीं होते, वहां अगर बादल हैं तो इसलिए कि उनमें से चमकता हुआ सूर्य बाहर आ सके। फिल्में मानवीय गरिमा और गौरव के अनुकूल हैं जो शायद राय के काम के अत्यधिक गहरे गुण हैं और ये गुण राय के अत्यधिक अमहत्वपूर्ण सृजन में भी पूरी तरह समाप्त नहीं होते। बंगाल के वयस्क जो *मिड समर नाइट्स ड्रीम* की तुलना में *हैमलेट* के भक्त अधिक हुआ करते थे, नहीं जानते थे कि वे क्या सोचें : लेकिन बच्चे *गोपी गायने बाघा बायने* को निश्चित तौर पर पसंद करते थे।

कानू कायने के बेटे गोपी की सबसे बड़ी महत्वाकांक्षा एक गायक बनने की है, लेकिन उसके पास वैसा स्वर नहीं है। पड़ोसियों द्वारा उकसाये जाने पर वह स्थानीय राजा के सामने गाने का प्रयास करता है लेकिन परिणाम यह होता है कि उसे गधे पर बैठाकर गांव से निकाल दिया जाता है। एक जंगल में उसकी मुलाकात ढोल बजाने वाले बाघा से होती है जो ऐसे ही दुर्भाग्य का सामना कर चुका है, दोनों के बीच मित्रता हो जाती है जो एक शेर के साथ हुई मुठभेड़ के बाद और भी मजबूत हो जाती है। जंगल में जब रात होती है, छायाएं धुंधला जाती हैं, तब भूत पेड़ों के नीचे नृत्य करने के लिए निकल आते हैं, वे अंधेरे धुंधलके में काली परछाइयों जैसी आकृतियों में इधर-उधर मंडराते हैं। तभी चमकती हुई रोशनी वाले एक आगे बढ़ते शिकारे में से भूतों का राजा प्रकट होता है और अनोखा नृत्य शुरू हो जाता है। श्वेत पर श्याम और श्याम पर श्वेत का प्रभाव प्रशासकीय तकनीक से पैदा किया जाता है। भूत समूह ब्रिटिश, भारतीय शासकों, भारतीय लोगों, विभिन्न धर्मों

के पुरोहितों का प्रतिनिधित्व करते हैं जो आपस में लड़ते हैं—ब्रिटिश और भारतीय लड़ते हैं, भारतीय आपस में लड़ते हैं, वे जब उनकी गति रुकती है तो स्तरबद्ध दिखाई देते हैं। भूतों का राजा गोपी और बाघा से प्रसन्न हो जाता है और उन्हें मन चाहे तीन वरदान देता है : एक दूसरे के हाथ पर ताली बजाकर वे किसी भी तरह का खाना प्राप्त कर सकते हैं, कभी भी यात्रा कर सकते हैं और यह कि वे सिद्धहस्त संगीतकार होंगे। वे संगीतज्ञों के एक ऐसे दल से मिलते हैं जो शुंदी राज्य में प्रतियोगिता के लिए जा रहे हैं, वे तुरंत वहां चल देते हैं और निश्चित ही प्रतियोगिता जीत लेते हैं। शुंदी के दयालु राजा का एक भाई है जो पड़ोस के हाला का राजा है लेकिन एक दुष्ट सेनापति, राजा को विशेष प्रकार का नशा देता है जो उसे आक्रामक बना देता है, भाई को भाई के विरुद्ध खड़ा कर देता है, यह नशा एक दुष्ट जादूगर द्वारा तैयार किया जाता है। गोपी और बाघा अपनी चालाकियों से सेनापति की योजनाओं को विफल कर देते हैं, दोनों भाइयों में मेल कराते हैं और उनकी इकलौती कन्याओं से विवाह रचाते हैं।

फिल्म का पूर्वार्थ मौलिक है। भूतों का नृत्य उत्कृष्ट कोटि का है जो दृश्य और श्रव्य रोमांच पैदा करने के अलावा भारतीय इतिहास के एक पाठ को भी प्रस्तुत करता है। सेट और पोशाकों को बहुत ही कुशलता से तैयार किया गया है और यह कौशल कुछ हद तक फिल्म के रंगीन न होने की क्षतिपूर्ति भी करता है। राय इस फिल्म में रंग चाहते थे लेकिन वित्तीय तौर पर ऐसा नहीं कर सके, इसके गीत बहुत ही खूबसूरती से लिखे गये हैं और उनका धुन निर्माण तथा गायन भी खूबसूरत हुआ है। यह फिल्म और इसके गीत बंगाली बच्चों में अत्यधिक लोकप्रिय हुए। वे इस फिल्म को बार बार देखना और इसके गीतों को बार बार सुनना पसंद करते थे। गोपी के रूप में तपन चटर्जी और बाघा के रूप में रवि घोष अपनी अपनी भूमिकाओं में सम्मोहक सादगी और आकर्षण पैदा करते हैं। राय की अन्य सभी बाल फिल्मों के अलावा यह फिल्म भी विभिन्न स्थानों, प्रकारों और आदतों वाले लोगों को बतौर नमूना प्रस्तुत करती है। फिल्म का आंशिक फिल्मांकन राजस्थान में किया गया था, लेकिन यह फिल्म कुछ समय बाद ही मौलिकता खोने लगती है और जब यह सीधे कहानी कहना शुरू करती है तो इसकी रोचकता में भी कमी आने लगती है। यह नये पहलुओं के निरंतर उभरते रहने की संभावनाएं जगाती है जो सामने नहीं आ पाते। इस सब और प्रत्यक्ष युद्ध विरोधी भाव के बावजूद यह मनोरंजन की संपदा में बहुमूल्य योगदान करती है जिसका आनंद वयस्क भी उसी तरह उठाते हैं जिस तरह बच्चे। यह राय की सर्वश्रेष्ठ बाल फिल्म है, मौलिक और आनंदमय। यह खेदपूर्ण है कि इस फिल्म को (अंतिम दृश्य को छोड़कर) रंगीन नहीं बनाया जा सका।

जब तक राय ने वयस्क दुनिया में नयी समझ और नयी पहचान शुरू की तब तक आठवां

दशक शुरू हो चुका था। 1969 में जब *अरण्येर दिनरात्रि* बनाई गई, बंगाल का वयस्क विश्व लपटों से घिर चुका था "जलती ट्रामों वाला कलकत्ता" जो राय की फिल्मों में कभी नहीं देखा गया, एक अग्निपुंज में बदल चुका था। हर रोज हत्याएं हो रही थीं देसी बम और बंदूकें आम दृश्य और ध्वनियों के हिस्से बन गये थे, युवकों का तीखा असंतोष नक्सलवादी आंदोलन में उभर रहा था जिसमें बहुत से प्रतिभावान विश्वविद्यालयीन युवक शामिल हो गये थे। न केवल इस नयी परिघटना को ही बल्कि नयी पीढ़ी में जो व्यापक बदलाव आ चुका था उसे समझना आवश्यक था। यह नयी पीढ़ी बंगाल पुनर्जागरण के अवशिष्ट गौरव को पीछे छोड़ आई थी और उन्हें लेकर अधीर होने लगी थी।

इस प्रकार की समझ आसानी से नहीं आती, और राय को भी कोई जल्दी नहीं थी, जैसा कि उनके साथ स्वाभाविक ही था। राय ने इस समझ की शुरुआत नक्सलवादियों से नहीं बल्कि इससे पहले के समय की न्यूनतम राजनीतिक चेतना वाली पुरानी युवा पीढ़ी के एक नमूने को लेकर की। चार युवक कलकत्ता की एकरसता से बचने के लिए निकल पड़ते हैं और एक आदिवासी इलाके में जा पहुंचते हैं। वे अधिक समृद्ध और कुलीन, असीम (सौमित्र चटर्जी द्वारा अभिनीत) की कार में यात्रा करते हैं। जंगल के सरकारी गेस्ट हाउस में, जिसका उन्होंने आरक्षण नहीं कराया है, वे घूस देकर ठहरते हैं। पास में ही कलकत्ता के एक समृद्ध वृद्ध का अवकाश-आवास गृह है, जहां वृद्ध अपनी पुत्री अपर्णा (शर्मिला टैगोर) और पुत्र वधू (कावेरी घोष) जो एक विधवा है, के साथ ठहरा हुआ है। दोनों औरतें अलग अलग प्रकार से आकर्षक हैं, पुत्री पतली-दुबली, खूबसूरत ठिगनी है जबकि पुत्रवधू अपेक्षाकृत भारी, बृहद अंगों और कामुक छवि वाली है। असीम जल्दी ही अपर्णा के प्रति आकर्षित हो जाता है और पुत्रवधू संजय के प्रति आकर्षित हो जाती है जो गुट का लंबा, शर्मीला और अल्पभाषी सदस्य है। उनमें से एक आरामतलब खिलाड़ी है जो एक आदिवासी लड़की पर नजर गड़ाता है और अंततः उसे फुसलाने में सफल हो जाता है। यह लड़की आदिवासी महिलाओं का एक रूढ़ रूप है जो प्रतिरोध करती है। अकेला विदूषक जैसा शेखर जो सबको लुभाने की कोशिश करता है लेकिन इस संगम खेल से बाहर रह जाता है। एक आदिवासी अड्डे पर खूब खाना-पीना और मौजमस्ती होती है और पड़ोसी के घर में सभ्य बातचीत होती है। जैसे जैसे प्रेम प्रकरण आगे बढ़ता है यह प्रत्येक पात्र के आगे सच्चाई के क्षण उपस्थित कर देता है। असीम अपर्णा के प्रति आकर्षित है लेकिन उसे ज्ञात होता है कि वह जितना समझता था अपर्णा में उससे कहीं अधिक गहराई है, और उसके साथ संबंध को बढ़ाने के लिए उसे स्वयं अपने व्यक्तित्व का विकास करना होगा। संजय जो बिना सोचे विचारे युवा विधवा के साथ पींगें बढ़ा रहा है, उसके (विधवा) द्वारा स्वयं को सहजता और बिना किसी आडंबर के प्रस्तुत किये जाने पर, अपने आपको बहुत कमजोर और घबराया हुआ पाता है। खिलाड़ी हरि आदिवासी लड़की को फुसलाने में सफल

होता है और जंगल में उसके साथ शारीरिक संबंध बना लेता है। उसकी उस आदिवासी द्वारा पिटाई कर दी जाती है जिसे उन्होंने पहले अपने सर्वकर्मकर सेवक के रूप में नियुक्त किया था। अकेला विदूषक शेखर ही है जो हमेशा निर्लिप्त रहता है लेकिन सब जगह मंडराता है। वह अकेला ही आत्म के साथ उस साक्षात्कार से सही-सलामत बच जाता है जो जंगल के अलगाव में नगर का पोषण इस गुट के ऊपर थोप दिया है।

उन तीनों के लिए जो अपने आप से साक्षात्कार करते हैं यहां अपने काम के प्रति उत्तरदायी होने का सबक निहित है। घूस के माध्यम से रेस्ट हाउस में उनके अनधिकृत प्रवास से रेस्ट हाउस का प्रभारी संकट में पड़ जाता है। क्योंकि जो कुछ कार्रवाई होनी है वह उनके जाने के बाद होगी इसलिए वे परवाह नहीं करते हैं। यहां तक कि असीम भी जो कि इस गुट में सबसे कम गैरजिम्मेदार है और आगे के परिणाम के बारे में सोच सकता है, इसके बारे में जानता था लेकिन उसने भी यह पता करने की कोशिश नहीं की कि प्रभारी की पत्नी कितनी बीमार थी। उसके अपर्णा के प्रति अपने आकर्षण के सूक्ष्म संकेतों के उजागर होने के बीच अपर्णा उससे पूछती है कि वह कैसा है, तो वह स्वीकार करता है कि उसे मालूम था कि कहीं कुछ गलत है इसलिए उसने जांच-पड़ताल नहीं की। जिम्मेदारी संजय के ऊपर भी आती है जिसने यह महसूस कर लिया था कि युवा विधवा, जो प्यार की भूखी है उसे प्रेम कर रही है लेकिन उसने उस विधवा को अपने आप से दूर करने के लिए कुछ नहीं किया। वह उस समय भी कुछ नहीं कर पाता जब उसके निरुत्साह प्रोत्साहन से बढ़ते हुए सामीप्य के परिणामस्वरूप वह (विधवा) स्वयं को उसे सौंपने का प्रस्ताव रखती है। खिलाड़ी अपने शिकार को लगातार फुसलाता है और अंततः उससे समर्पण कराने में सफल हो जाता है और इसकी कीमत भी चुकाता है। जंगल इन लोगों को उनके असली रूप में उभारता है और उन्हें उनके भीतर के ऐसे तत्वों से साक्षात्कार कराता है जिनके बारे में वे स्वयं नहीं जानते थे, और अगर जानते थे तो भी उसके आमने-सामने नहीं हुए थे। उनकी एक दूसरे के बारे में और अंततः स्वयं अपने बारे में जानकारी धीरे धीरे प्रखर होती जाती है, और आकर्षणों तथा मोहभंगों का जाल खूबसूरती से बुन जाता है।

लेकिन जिम्मेदारी का पाठ *अरण्येर दिनरात्रि* के मनोरंजन का सबसे छोटा अंश है। *चारुलता* से हर तरीके से भिन्न होने के बावजूद इस फिल्म में संरचना और संगीतात्मक लय में वैसी ही परिपूर्णता है इसमें वैसी ही गीतात्मकता, पुनरावृत्तियों और अनुगूंजों का वैविध्य और वैसी ही स्वरानुक्रम की सटीकता मौजूद है। फिल्म का रूप अनेक प्रकार से ज्यां रेनेवां की फिल्म "रूल्स आफ द गेम्स" की याद दिलाता है। भारतीय खासतौर पर बंगाली बुद्धिजीवियों की दृष्टि में विषयवस्तु स्वयं को विधान से आसानी से अलग कर लेती है, भारतीय बुद्धिजीवी संरचना और विवरण के अवलोकन को विषयवस्तु की तरह

ही कला के आवश्यक तत्व के रूप में मुश्किल से ही देख पाता है। बर्गमैन की *द सेवेन सील* को वह पसंद करता है और *स्माइल आफ ए समर नाइट* के जादुई आकर्षण को वह महसूस नहीं कर पाता। जब *अरण्येर दिनरात्रि* को पहले पहल प्रदर्शित किया गया था तो इसे बहुत लोगों ने अतिसामान्य बताकर खारिज कर दिया गया था। प्रायः राय के दर्शक ही अधिक साहित्यिक सिद्ध होते हैं, उनकी इस फिल्म में चरण दर चरण निर्मिति इतनी परिपूर्ण है जितनी कि *चारुलता* में थी। इसकी लय में अधिक वैविध्य है, इस पात्र के पास संचालन की अपनी गति और शैली है जो इस गुट की लापरवाह तथा अलग अलग प्रवृत्ति, आंतरिक दायित्व बोध की कमी को उजागर करती है। पात्रों की ये भिन्नताएं उन गुणों के बावजूद हैं जो उनमें समान रूप से मौजूद हैं।

जिस तरह से *चारुलता* में घर एक पात्र है उसी तरह से *अरण्येर दिनरात्रि* में जंगल एक पात्र की भूमिका में है। वस्तुतः राय को सदैव ही एक निर्जीव पात्र की आवश्यकता होती है जो मौन भूमिका में हो और कभी कभी कारुणिक तर्काभास प्रदान कर सके—*पाथेर पांचाली* में राम, *अपराजितो* में बनारस, *अपुर संसार* में रेल पटरी और जंगल, *जलसा घर* में हवेली, *कंचनजंघा* में पर्वत, *नायक* में रेलगाड़ी आदि। बाद में जैसा कि *प्रतिध्वनि* में हुआ है, राय जब कलकत्ता की पृष्ठभूमि में फिल्म बनाते हैं तो इससे उनके सामने समस्याएं खड़ी होने लगती हैं, लेकिन इसके बारे में बाद में।

अरण्येर दिनरात्रि में शायद बाद की अनेक अन्य फिल्मों में भी, विषयवस्तु के साथ राय के साहचर्य गुणवत्ता में गहरा परिवर्तन आया है। *चारुलता* के औपचारिक सौंदर्य के पीछे चरित्र की उत्कृष्ट समझ निहित थी। चारु के साथ, और विशेष रूप से भूपति के साथ एक रचनात्मक तादात्म्य मौजूद था। पात्र विशेष रूप से चारु का भीतर से परखे जाते थे। *अरण्येर दिनरात्रि* अपने नायकों का अपेक्षाकृत उत्साहहीन तटस्थ, यद्यपि सर्वांगीण विश्लेषण प्रस्तुत करती है। वे नायक, 'नायक' के नायक की तरह, टैगोर-विभूति भूषण-ताराशंकर वर्ग के लिए अजनबी हैं और इनका उत्तर—चारुलता फिल्मों में राय का प्रयास उनके साथ अपना रागात्मक तादात्म्य अभिव्यक्त करना नहीं है, बल्कि उनके साथ अपने संबंध की खोज करने या उनके साथ अपने संबंध को बताने के लिए उन्हें समझने की कोशिश करना है। यह स्वतंत्रता बाद की उस पीढ़ी के साथ पहचान की नई खोज है जो उनके (राय) साथ भारतीय पुनर्जागरण के मूल्यों में भागीदारी नहीं करती, शायद न्यूनतम रूप में भी नहीं, वे कारक जो पीढ़ी के चरित्र को निर्धारित करते हैं, नये हैं और एक नयी समझ की अपेक्षा करते हैं शायद इसीलिए उन्हें इसको इसकी स्वाभाविक विन्यास निर्मिति, एक प्रकार से प्रयोगशाला विश्लेषण से बाहर लाना पड़ा। तथापि, *अरण्येर दिनरात्रि* में पुरुषों की तुलना में औरतें स्पष्टतः अधिक वास्तविक हैं। अपर्णा में यथार्थ और उत्तरदायित्व का भाव अधिक प्रखर है। युवा विधवा एक विशेष प्रकार की पाशविक सच्चाई

है हालांकि वह भावनात्मक रूप से अधिक संवेदनशील है।

अरण्येर दिनरात्रि के पात्र की तुलना में, *गोपी गायने, बाघा बायने* की फैंटेसी और बाल कथा फिल्मों को अपवाद मानें तो, प्रयास और समझ के स्तर पर प्रगति दिखाई देती है, लेकिन सारी समझ प्रेम नहीं है और फिल्म एक विशेष उदासीनता से बच नहीं पाती। समझ और तादात्म्य और पहचान की खोज उस मानवीय ऊष्मा को प्रकट नहीं करती जो पहली फिल्में करती थीं—जैसे कि उस समय जब *अपराजितो* में हिंदू पौरोहित्यिक कर्तव्य निभाने वाले अपु के साथ ब्राह्मो सौहार्द कायम करता है या जब देवी में काली किंकर अपनी धार्मिक मनोग्रस्तता को प्रकट करता है।

7

समकालीन वास्तविकता से साक्षात्कार

अपनी फिल्म *प्रतिद्वंदी* (1970) में राय इस समस्या से सीधे रूप में जूझने की कोशिश करते हैं। कहानी एक बार फिर समकालीन उपन्यासकार सुनील गंगोपाध्याय की है।

पर्दे पर शीर्षक के उभरने से पहले ही कहानी एक अशुभ घटना के चित्रण से शुरू होती है। सिद्धार्थ के पिता की मौत हो चुकी है, दाह-संस्कार के लिए उनका शव ले जाया जा रहा है। जैसे ही सिद्धार्थ (धृतिमन चटर्जी) जलते शव के किनारे खड़ा होता है वैसे ही नकारात्मक छवि सकारात्मक छवि में तबदील हो जाती है और पर्दे पर शीर्षक उभरने लगते हैं। नौकरी की खोज में बेचैन नायक असफल साक्षात्कारों की शृंखला में एक और साक्षात्कार का सामना कर रहा होता है। साक्षात्कार के दौरान नायक वियतनामी अवाम के साहस की भावुक दुहाई देता है, किंतु ऐसे उद्‌गार उसे नौकरी नहीं दिला पाते। उसकी रूपवती बहन (कृष्णा बोस) नौकरी में है। कार्यालय अवधि की समाप्ति के बाद भी वह अपने बॉस के साथ इतना सारा समय गुजारती है कि एक दिन उसकी पत्नी अचानक घर पर आ धमकती है और परिवार पर अपनी शंका जाहिर करती है। बहन के घर वापस आने पर सिद्धार्थ उससे पूछताछ करता है किंतु मां के सामने वह उसका बचाव भी करता है। फिर सबक सिखाने की गरज से वह बॉस के कार्यालय जाता है। उसकी इस हरकत का बॉस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। एक परिचित कम्युनिस्ट नेता उसे पश्चिम बंगाल के किसी छोटे कस्बे में मेडिकल रिप्रेजेन्टेटिव की नौकरी कर लेने की सलाह देता है, किंतु कलकत्ता छोड़ने के ख्याल से ही वह डर जाता है और कम्युनिस्ट नेता उसे एक नीरस व्यक्ति लगने लगता है। उसका भाई (राजा राय) जो कि मितभाषी, राजनीतिक ख्यालों वाला एक कुशाग्रबुद्धि छात्र है, नक्सलवादी बन जाता है। मेडिकल कालेज का एक मित्र (कल्याण चटर्जी) बहला-फुसलाकर उसे एक ऐसी नर्स के पास ले जाता है जो वेश्यावृत्ति के धंधे में लगकर कुछ पैसे कमाती है, किंतु सिद्धार्थ के अंदर डर और बेचैनी भर जाती है और वह वहां से भाग खड़ा होता है। यूं ही घूमते-भागते एक दिन उसकी मुलाकात एक लड़की (जयश्री राय) से होती है। लड़की से सिद्धार्थ की हल्की जान-पहचान पहले से ही थी, फिर कुछ ही हफ्तों में वह उसके प्यार की गिरफ्त में आ जाता है। लड़की भी सिद्धार्थ को चाहने

लगती है। लड़की की मां मर चुकी है और उसका बाप उसकी चाची से शादी रचाने जा रहा है। बाप के इस कदम के प्रति लड़की में घृणा की भावना है। फिल्म के अंत में सिद्धार्थ, नौकरी की खोज में एक और साक्षात्कार के लिए उपस्थित होता है जहां उसे विरोध के बावजूद तथा सैकड़ों दूसरों के साथ, असहनीय अवस्था में घंटों इंतजार के लिए बाध्य होना पड़ता है। तभी प्रतीक्षारत एक आवेदक बीमार हो जाता है। सिद्धार्थ साक्षात्कार-कक्ष में घुस जाता है मेज उलट देता है, साक्षात्कार कर्ताओं की अमानवीयता का जोर-शोर से प्रतिवाद करता है। तदंतर दवा-विक्रेता की नौकरी कर वह छोटे शहर के एक होटल में रहने आता है जहां उसे मुर्दा ले जाते हुए लोगों का समवेत धार्मिक स्वर सुनाई पड़ता है—राम नाम सत है!

सत्यजीत राय की पेशेवर जिंदगी में *प्रतिद्वंदी* कई कई मायनों में प्रथम मुकाम है। पहली दफा इस फिल्म में वे उस तकनीक का प्रयोग करते हैं जिसे वे कभी मृणाल सेन के साथ हुए एक तीखे सार्वजनिक विवाद में चालू लटका कहकर खारिज कर चुके थे। कहानी एक नकार से शुरू होती है, नकार से ही अनेक बिंदुओं को पकड़ती है, खासकर उस दृश्य में यह नकार अपनी पराकाष्ठा पर है जहां नर्स वेश्या अपनी कंचुकी खोलने को उद्यत दिखाई पड़ती है। बीच बीच में सिद्धार्थ की मेडिकल शिक्षा की छवियां अचानक और संक्षिप्त रूप में दिखती हैं। उदाहरण के लिए जब सुगठित काया वाली एक लड़की गली से गुजरती है तो पर्दे पर "स्त्री वक्षस्थल" का डायग्राम उभरता है जिसकी तकनीकी व्याख्या एक शिक्षक कर रहा होता है। फिर काल्पनिक कामनापूर्ति के दृश्यों की झांकियां भी हैं, जैसे एक दृश्य में सिद्धार्थ द्वारा अपनी बहन के बॉस को पीटते हुए दिखाया जाता है। यहां ऐसा लगता है मानो राय यह सिद्ध करने के लिए कृतसंकल्प हों कि अगर लटकों-झटकों की बात है, तो उनके प्रयोग में भी वे उतने ही सिद्धहस्त हैं जितने की दूसरे या संभवतः उनसे बेहतर।

यहां जो अधिक महत्वपूर्ण है वह है मानवीय संकट की समझ के लिए राय की सहभागिता पूर्ण पृष्ठभूमि के पारंपरिक प्रयोग की कमी : *त्रयी* में गांव और बनारस, *चारुलता* में घर, *कंचनजंघा* में पहाड़, *नायक* में रेलगाड़ी आदि। यहां एक जीवंत शहर की पृष्ठभूमि के निर्माण की एक अधमनी कोशिश दिखाई देती है जो पूरी तरह सफल नहीं होती (बाद में *जन अरण्य* में यह कोशिश सफल होती है)। नतीजन राय की अन्य फिल्मों खासकर *अरण्येर दिनरात्रि* की तुलना में इस फिल्म के चरित्र और इसकी घटनाएं एक अपरिभाषित वातावरण में संदिग्ध तरीके से गुम होते प्रतीत होती हैं। नर्स वेश्या से सिद्धार्थ की भेंट के माध्यम से नगर की कुरूपता दिखाने की पहली कोशिश अत्यंत सार्थक बन पड़ी है, किंतु सिद्धार्थ के शर्मीलेपन, उसकी कमजोरी तथा भावुकता के साथ उसके चरित्र निर्माण में अधिक संवेदनशीलता नहीं दिखाई गयी है—उसके चरित्र में न तो "अपु" की भद्रता

है और न ही *जन अरण्य* के सोमनाथ का संकल्प। बहन की भूमिका अपेक्षाकृत बेहतर है तो मेडिकल छात्र-मित्र की भी। वहीं दूसरी तरफ हिप्पी आरोपित, नियोजित और छद्म दिखाई पड़ते हैं। राय की अन्य श्रेष्ठतम फिल्मों की तरह इस फिल्म पर लय की मजबूत पकड़ परिलक्षित होती है।

तथापि अपु की विरासत से इतर जिस परिवर्तन की झलक मिलती है, वही सिद्धार्थ के चरित्र को अर्थपूर्ण बनाती है। अपु की नैतिक उदात्तता तथा दार्शनिक स्वभाव की शेष विशेषताएं राय की उत्तरवर्ती फिल्मों में एक शांत और क्रूर दुनिया में तब्दील हो जाती हैं। शांतिनिकेतन में सौंदर्य और संस्कृति के द्वीप के रूप में सत्य और शाश्वता के जिस कल्पना-लोक की समझ टैगोर के अनुगामी बंगाली मध्यवर्गीय समाज में पैदा हुई थी, और जिस तत्कालीन स्वातंत्र्योत्तर भारत को लगातार नकारा जा रहा था, वह यहां बुनियादी और यथार्थ रूप में बदल गयी है। बीते हुए टैगोरवादी युग के स्मृतिशेषों की ओर इशारा खुद राय भी करते हैं जब वे बार बार भाई-बहन के साथ गांव में बीते सिद्धार्थ के बचपन के दिनों को फ्लैशबैक के रूप में दिखाते हैं। टैगोरवादी युग की समरसता के विलुप्त होने को राय ने अत्यंत सरलीकृत और कुछ हद तक अनगढ़ रूप में, एक पक्षी-विशेष की आवाज को प्रतीक बनाकर, दर्शाया है। किंतु उत्तरवर्ती अपु और दुर्गा के फ्लैशबैक्स (पूर्व-दृश्यों) संजीदगी पैदा नहीं कर पाते, वे इतने अचानक प्रकट होते हैं कि पूरी कहानी के साथ कोई संगति नहीं बन पाती।

फिल्म के अंत में साक्षात्कार के दृश्य के आयोजन से राय की मनःस्थिति तथा घटनाओं को पुनर्समायोजित करने की उनकी खास प्रवीणता का पता चलता है। सिद्धार्थ के अंदर अधीरता का धीरे धीरे बढ़ना और अंत में उनके क्रोध का फूटना—दोनों ही स्थितियां पूर्णतया संयत रूप में चित्रित हुई हैं। साक्षात्कार की प्रतीक्षा में खड़े नरकंकालों की छवि सहज ही यादगार मानी जा सकती है। इसी तरह सिद्धार्थ और उसकी महिला मित्र के बीच अंतरंगता को सावधानीपूर्ण तरीके से विकसित किया गया है और वह विश्वसनीय प्रतीत होता है, लड़की में नयी ताजगी, प्रफुल्लता और एक खास तरह का उदासी भरा भोलापन है। इसके विपरीत बहन के बॉस से सिद्धार्थ के मिलने का दृश्य लचर लगता है। *प्रतिद्वंद्वी* फिल्म के इस दृश्य की अस्पष्टता *अपुर संसार* के उस दृश्य को याद करने से ही समझ में आने लगती है जिसमें अपु के घर उसका मकान मालिक आता है।

प्रतिद्वंद्वी में असंबद्धता गुण अधिक है, इतना अधिक राय की न पूर्ववर्ती फिल्मों में था और न ही उत्तरवर्ती फिल्मों में। यद्यपि इस असंबद्धता का निर्वाह हुआ है, जैसा कि बाद में *जन अरण्य* में हुआ है, फिर भी निर्वहन से पूर्व जो कुछ घटता है उसका एक मात्र कारण निर्वहन तक पहुंचना ही नहीं है। हमें उस लड़की से सम्मोहित होने का पर्याप्त समय मिलता है, जब वह बिजली का फ्यूज उड़ने पर सिद्धार्थ को अंदर बुलाती है। उनके मिलने

में ही इतनी भद्रता है कि पुराने जमाने की याद आ जाती है। कैमरा धीरे धीरे उसे टेरेस के एक छोर से दूसरे छोर, फिर दूसरे छोर से पहले छोर तक टहलते हुए कैद करता है, बाहर वातावरण शोर से गुंजायमान है, जो नीचे लाउडस्पीकर पर एक राजनीतिक वक्ता के भाषण से पैदा हो रहा है। इमारत के ऊपरी तले से सिद्धार्थ और लड़की दिखते हैं, उनके चेहरे पर डूबते सूरज की किरणें पड़ रही हैं। नैराश्य और सम्मोहन का अजीब मिश्रण जिसका कोई भी नाटकीय अर्थ नहीं है। लड़का और लड़की दोनों को लगता है कि वे भीड़ की कोलाहल भरी दुनिया से अलग एक निजी दुनिया में हैं। *प्रतिद्वंद्वी* के इन दृश्यों में राय की पूर्ववर्ती फिल्मों की अनुगूंज सुनाई पड़ती है। यद्यपि हमारे अनदेखे खुशहाल बचपन के प्रतीक पक्षीगान को दिखाने वाले अचानक मगर गृहातुर (नोस्टेल्जिक) फ्लैशबैक पटकथा को संतुलित करने के सायास तरीके प्रतीत होते हैं।

प्रतिद्वंद्वी और मृणाल सेन की *इंटरव्यू* बिल्कुल एक साथ रिलीज हुई थीं। दोनों ही फिल्में बंगाली मध्यवर्गीय समाज में व्याप्त शिक्षित बेरोजगारों की समस्या को लेकर बनी थीं। उनके प्रशंसकों की अलग अलग जमात थी जो अक्सर राजनीतिक ख्यालों के अनुसार बंटी हुई थीं। मूल परिवर्तनवादी सेन की विवेचना को पसंद करते थे और राय के नायक की कमजोरी (विवशता) तथा उसके समर भूमि से पलायन करने की आदत को कोसते थे। इन प्रशंसकों की पक्षधरता तब अपने उफान पर थी। सेन की फिल्म में खास तरह की नयी ताजगी और उत्साह दिखता है और संभवतः अपने प्रणेता के साथ गहरे जुड़ाव को भी परिलक्षित करती है। किंतु आज पुरावलोकन पर पड़े प्रत्यक्ष दोषों और विशिष्टतारहित नाटकों के बावजूद राय की फिल्म तेवर में अधिक गंभीर साबित होती है। अंतिम साक्षात्कार का सशक्त दृश्य हकीकत को और अधिक तल्ख बनाता है। इसके नायक की दुविधा शिक्षित मध्यवर्ग के अधिक संवेदनशील लोगों के सामाजिक विकास के एक स्तर पर वास्तविक प्रतीत होती है। सेन के नायक की उद्धत भावभंगिमाओं (चेष्टाओं) के मुकाबले सिद्धार्थ की पराजय में अधिक वास्तविकता और सार है। अंततः दोनों नायक कमजोर साबित होते हैं—एक अपनी वापसी में, दूसरा अपने निरर्थक प्रतिरोध में। सेन का नायक स्टोर जिसमें दर्जी (टेलर) की डमी रखी हुई है, की खिड़की पर पत्थर मारता है जबकि राय का सिद्धार्थ साक्षात्कर्ता का मेज उलट देता है—शायद अधिक साहसपूर्ण कार्रवाई किंतु प्राप्य की दृष्टि से उतनी ही व्यर्थ। सेन अपने ही दृष्टिकोण को ज्यादा सशक्त तरीके से अभिव्यक्त करते हैं, जबकि राय अपने समय के इतिहास के प्रस्तोता बने रहते हैं।

आगामी वर्ष के आते आते राय और अधिक यथार्थवादी सुसंगठित तथा स्पष्टतः संयोजित कथ्य के साथ, कर्मचारी से नियोक्ता की ओर मुड़ जाते हैं। *कंचनजंघा* की धुंधली आभा और *पारस पत्थर* की हास्यपरक चाशनी की बात छोड़ दें तो *सीमाबंध* (1971) में ही राय ने समकालीन समृद्ध-समाज पर पहली टिप्पणी की है। कहानी एक महत्वाकांक्षी

नौजवान अधिकारी की है। निदेशक-मंडल की सदस्यता हासिल करने के लिए अपने नैतिक और सांस्कृतिक मूल्यों को बेच देने में सुशिक्षित और विनम्र श्यामलेन्दु (बरुण चंदा) को कोई हिचक नहीं है। उसकी कंपनी ईराक में छत के पंखों के निर्यात का एक कीमती आर्डर प्राप्त कर चुकी है, किंतु पंखों में उत्पादन-त्रुटि रह जाती है और अब उन्हें ठीक करने का पर्याप्त समय भी नहीं है। ऐसे में कंपनी पर भारी मुआवजे की भरपाई की जिम्मेदारी आ जाती है। साथ श्यामलेन्दु के जीवन में तनाव का एक दूसरा कारण भी उपस्थित हो जाता है। उसके इस तनाव का कारण है उसकी खूबसूरत साली तुतुल (शर्मीला टैगोर)। आकर्षक पत्नी डोला (प्रमिता चौधरी) के बजाय शीघ्र ही तुतुल श्यामलेन्दु की चाहत बन जाती है। शुरू से तुतुल श्यामलेन्दु की प्रशंसिका रही है, यह आकर्षण अब कुछ ज्यादा ही बढ़ जाता है। तुतुल जिस परिवेश की लड़की है, अतीत में श्यामलेन्दु भी उसी परिवेश से आया था। तब उस परिवेश में आज की तरह वैभव नहीं था। तुतुल एक तरह जहां श्यामलेन्दु के व्यक्तित्व से प्रभावित है वहीं वह उसकी आकांक्षा और भागम-भाग और भीड़ भरी जिंदगी से विकर्षित भी है। एक कार्मिक अधिकारी और अफवाह फैलाने में मंदिर और दलालों की बदौलत श्यामलेन्दु कारखाने में, मजदूर-संकट का बहाना बनाकर, लाक आर्डर की घोषणा करवाने में कामयाब हो जाता है। इस तरह कंपनी को सीलिंग पंखों के निर्माण के लिए आवश्यक समय भी मिल जाता है, वह मुआवजे के उपबंधों से मुक्त भी हो जाता है। बदले में कंपनी श्यामलेन्दु को बोर्ड का सदस्य मनोनीत कर देतीं है। श्यामलेन्दु की खोज में क्लब, से रेसकोर्स तथा रेसकोर्स से कॉकटेल पार्टी का चक्कर काटते काटते कुछ ही दिनों में तुतुल जान लेती है कि अंधी दौड़ में श्यामलेन्दु का मन पूरी तरह रमा हुआ है, नतीजन तुतुल उसकी जिंदगी से अलग हो जाती है।

फिल्म वहीं से शुरू होती है जहां पर *प्रतिद्वंद्वी* शुरू और खत्म हुई थी, अर्थात बेरोजगारों से। सड़क पर बेरोजगारों की भीड़, और उनके सामने से गुजरती कारों के ऊपर से लिये गये शाट, और ऐसे ही दृश्यों के बीच श्यामलेन्दु का परिचय प्रथम पुरुष में मिलता है। वह संतुष्ट है कि वह इस भीड़ का हिस्सा नहीं है। दूसरे दृश्य में श्यामलेन्दु का जीवनीपरक परिचय मिलता है। वर्षा का एक दिन। पूरी तरह भीगा हुआ डाकिया श्यामलेन्दु के हाथ में, उसका नियुक्ति पत्र देता है। उसे दूसरी चीजों के साथ साथ पंखे बनानेवाली कंपनी हिंदुस्तान पीटर्स में अधिकारी की नौकरी मिल जाती है। आनन-फानन में उसकी शादी होती है, वह एक बहुमंजिली अपार्टमेंट में रहने लगता है और बॉस को खुश रखने के गुण सीखने लगता है। कंपनी में श्यामलेन्दु की स्थिति के वर्णन में राय ने वृत्तचित्र की बारीकी दिखाई है—कम्पोजिट शाट के माध्यम से सूचना देकर, संगठन तालिका को टंगे दिखाकर या फिर बॉस और उसकी इनसेट (पोस्टरनुमा) तस्वीरें देकर। जिस वृत्त में उसकी इनसेट तस्वीर है वह धीरे धीरे बढ़ती जाती है और हम श्यामलेन्दु को एक कार के अंदर पाते

हैं जिसे कोई ड्राइवर चला रहा है। टेलीफोन की घंटियां बजती हैं और पर्दे पर छोटे छोटे टंकित (टाइपोग्राफिक) शीर्षकों के उभरने पर मोटरकार का हार्न कलहंस की मानिंद आवाज देते हुए बजता है, पार्श्व में बांसुरी की बेसुरी आवाज संगीत का आभास देती रहती है।

माहौल अफवाहों से गर्म है। एक लाचार बूढ़ा निदेशक जो बोर्ड की मीटिंगों में अक्सर ऊंघता रहता है, फील्ड मार्शल ऑचिनलेक के यात्रा भत्ते के भुगतान-बिल को टालते रहकर अपनी हैसियत की धौंस जमाता है। शीर्ष अधिकारी के हस्तक्षेप के बाद ही आखिर वह फील्ड मार्शल के यात्रा-बिल पर हस्ताक्षर कर देता है। किंतु अंग्रेज इतने सभ्य होते हैं कि ऑचिनलेक उसके प्रति अपने मन में कोई मलाल नहीं रखता। कामगारों की गतिविधियों की जानकारी श्यामलेन्दु को एक नौजवान व्यक्ति से मिलती रहती है जिसे उसने उन्हीं के साथ नौकरी दे दी है। फिर राय कैप्टन कुक के अंदाज में कलकत्ता के शिष्ट जनों की जिंदगी दर्शाते हैं और तभी हमारे सामने पंखों की एक विज्ञापन फिल्म आ जाती है जिसमें श्यामलेन्दु और उसकी विज्ञापन एजेंसी को परस्पर विचार-विमर्श करते दिखाया गया है। कार्यालय की समस्याओं के बारे में वह अपनी साली को बताता है, किंतु पत्नी को नहीं। उसके घर पर कॉकटेल पार्टी चल रही होती है कि उसके माता-पिता, पूर्व सूचना बगैर, आ धमकते हैं। माता-पिता का, अतिथियों से परिचय कराये बिना ही, शयनकक्ष तक ले जाया जाता है, फिर बारी बारी से पति और पत्नी पार्टी से विदा लेते हैं और माता-पिता के साथ बात करते हैं। दलाल द्वारा फेंके गये एक बम से फैक्टरी का गार्ड घायल हो जाता है, सुनते ही श्यामलेन्दु गिरते पड़ते अस्पताल जाता है, गार्ड उसे सलाम ठोंकने की गरज से उठकर बैठना चाहता है। शांत, सौम्य और शिष्ट मुस्कान के पीछे छिपी घोर कपटता अपनी पूर्णता में सामने आ जाती है। श्यामलेन्दु बंगालियों से ठेठ बंगला में बात करता है तो अंग्रेजों से उतनी ही शुद्ध अंग्रेजी में—वह भी उच्चारण में परिवर्तन लाये बगैर। न उसके बारे में कुछ भी साधारण है, न ही उस व्यवस्था के बारे में जिसमें वह सक्रिय है। वे खूब जानते हैं कि वे क्या कर रहे है। यहां तक कि श्यामलेन्दु छात्र जीवन की उन स्मृतियों का आनंद लेता है, उनके प्रति एक खास हद तक आकर्षित भी होता है, जिन्हें तुतुल अपने आदर्शमय भोलेपन से जगा देती है। उसे तब बड़ा आनंद आता है जब तुतुल उसकी वार्षिक तनख्वाह की तुलना रवीन्द्रनाथ टैगोर को मिले नोबेल पुरस्कार की राशि से करती है।

समृद्धों के प्रति राय की नफरत इतनी जबरदस्त है कि संरचना की पूर्णता और वर्णन की सूक्ष्मता के बावजूद वे तुतुल के भोलेपन और उसके तथा उसके जीजा के बीच चल रहे नाटकीय द्वंद्व के प्रति, किसी भी तरह की सहानुभूति नहीं जगा पाते। स्वचेतन शिष्टता के साथ निभायी गयी शर्मिला टैगोर की यह भूमिका (जैसे कि *अरण्येर दिनरात्रि* में भी) बरबस ही बरुण चंदा की नियंत्रित सौम्यता के साथ मेल खाती प्रतीत होती है। अपनी भूमिका में पात्र को पूरी तरह मुखर करने में कार्मिक अधिकारी (अजय बनर्जी) ही सफल

होते हैं, शेष तो मृत मुखौटे भर हैं जो राय की मजाकिया-कहावतों वाली पहेली में प्रयोग होते रहते हैं। लेकिन मजे की बात तो यह कि कहानी के अंत में ये पात्र भी पूर्णरूप से संगत प्रतीत होते हैं। वे दिन लद गये जब उत्पीड़क और उत्पीड़ित दोनों ही माननीव करुणा के पात्र होते थे, किंतु यहां उनका चित्रण एक खास तटस्थता के साथ हुआ है। फिल्म में खलनायकों की भरमार है, यद्यपि उनके अपने अपने कारण भी हैं।

राय की दूसरी महत्वपूर्ण कृति शांतिनिकेतन के अपने पूर्व शिक्षक-चित्रकार विनोद बिहारी मुखोपाध्याय पर बना वृत्तचित्र है। दृष्टि खो देने के बाद भी श्री मुखोपाध्याय सक्रिय चित्रकारी में लगे रहे थे। बीस मिनट के इस वृत्तचित्र *दि इनर आई* (1972) में राय ने चित्रकार के जीवन और कृतियों के बारे में तथ्यपरक जानकारी अपनी विशिष्ट शैली में दी है। यहां चित्रकार के नेत्रहीन होने के साथ व्यर्थ की भावुकता कहीं भी नहीं दिखती। नतीजन, तथ्यों की बारीक प्रस्तुति तब अत्यंत मार्मिक हो उठती है जब चित्रकार को हम उसके अंधेपन के दौर में पाते हैं और देखते हैं कि कैसे यह नेत्रहीन चित्रकार घर के इर्द-गिर्द घूम लेता है, कैसे बिना किसी की सहायता के अपने लिए चाय बना लेता है आदि आदि।

लंबे समय से राय की चाहत रही थी कि वे विभूति भूषण बंद्योपाध्याय के उपन्यास *अशनि संकट* पर कोई फिल्म बनाएं। यह उपन्यास 1943 के बंगाल-दुर्भिक्ष के बारे में है। यह दुर्भिक्ष प्राकृतिक विपदा का प्रतिफल न होकर मानवीय कृत्यों का नतीजा था। संभवतः यह विचार राय के दिमाग में 1967 के भयंकर अकाल को देखकर ही पैदा हुआ था। इस अकाल में अनगिनत लोगों की जानें गयी थीं। 1943 के अकाल में दसियों लाख लोगों की जानें गयी थीं, वह भी तब जब फसलों की पैदावार अच्छी थी तथा पर्याप्त मात्रा में खाद्यान उपलब्ध था। उस दुर्भिक्ष में काल कलवित हुए लोगों में कुछ ऐसे भी थे जो इस रहस्य को जान नहीं पाये थे। उनका पैदा किया हुआ पूरा खाद्यान्न ब्रितानी सेना की खुराक के लिए भेज दिया गया था, उनके पास शेष कुछ भी नहीं बचा था। वे नहीं जान सके कि सारा खाद्यान्न कैसे और कहां चला गया। लंबी दूरी तय करते हुए लोग-बाग काफिलों की शक्ल में कलकत्ता पहुंचे थे, घर घर भीख मांगकर गुजर-बसर की और जब कुछ न मिला तो चुपचाप मृत्यु का वरण कर लिया, किंतु मरते वक्त भी उनके लबों पर सब कुछ हजम कर बैठे लोगों के प्रति कोई शिकायत न थी। खाद्यान्न की दुकानों के सामने वे भूखे खड़े रहे, किंतु लूटने की हिमाकत नहीं की। वे मक्खियों की मानिंद सड़कों पर मरते रहे। इन सबकी चर्चा न तो उपन्यासकार ने की और न ही फिल्म निर्माता ने। दोनों इस हाहाकार को एक दूरी से ही सुन पाये थे। विभूति भूषण ने इस उपन्यास में भूख की पीड़ा तले पुरानी जिंदगी के ढर्रे को ढहते देखा था। कहानी कुछ यूं है। एक बार एक ब्राह्मण पुरोहित (सौमित्र चटर्जी ने इस भूमिका को बड़ी शिद्दत के साथ निभाया है) अपनी बुद्धि और लालच की

बदौलत विलक्षण शासक बन बैठता है। जीवन के लिए जो कुछ भी अच्छा है, वह उसका उपभोग करता है। उसके पास खाने के लिए ढेर-सारा खुपक (सुस्वादु) खाद्य-पदार्थ तो है ही कामातुर करने वाली पत्नी भी है, भक्त ग्राह उसकी मुट्ठी में है और वह उनकी कमाई से सुख का जीवन जी रहा है।

शीघ्र ही उसके लिए बुरे दिनों का अपशकुन शुरू हो जाता है। खाने के लाले पड़ जाते हैं, घर की महिलाएं खाने के लिए उन कंद-मूलों को चुनती हैं जिन पर कल तक वे लात मारती थीं, सेर भर चावल की खातिर किसी अजनबी के साथ सहवास करती हैं। इन्हीं अजनबियों में से एक पुरोहित की पत्नी के साथ बलात्कार करता है। पुरोहित इस अजनबी को नहीं जानता है—वह अचानक ही कहीं से प्रकट हो गया है और अब गांव के फेरे लगाता है। घटनाओं को एक गंवई की नजर से देखा गया है जिसे नहीं मालूम कि समृद्धि के बीच अभाव की यह अजूबी समस्या क्योंकर और किसके द्वारा पैदा की जा रही है। सिंगापुर के युद्ध की भनक तो है उन्हें, किंतु यह नहीं मालूम कि यह नगर क्या और कहां है और यह भी कि वहां लड़ी जा रही लड़ाई का इस जानलेवा महंगाई से क्या संबंध है। अनाज बाहर ले जाने वाले लोगों का क्रिया-व्यापार दर्शकों के लिए भी उतना अस्पष्ट है जितना कि वह गांव वालों के लिए है। बाजार में खाद्यान्न की किल्लत शुरू हो गयी है, लेकिन पुरोहित को ब्रह्मभोज का अंतिम सुअवसर प्राप्त होता है। पुरोहित (गंगाचरण) के सामने छप्पन प्रकार के व्यंजन सजे हुए हैं लेकिन उसे भूखी पत्नी की याद आ जाती है और वह खा नहीं पाता। इसके तुरंत बाद ही नारकीय यातना का चक्र शुरू हो जाता है। चावल विक्रेता, जिसने भारी मात्रा में चावल छुपा रखे हैं, गांव वालों को चावल बेचने से इंकार कर देता है। स्पष्टतः वह यह चावल युद्ध अधिकारियों को ऊंचे दाम पर बेच सकेगा तथा बड़े-स्तर का यह एकमुश्त सौदा खुदरा बिक्री से ज्यादा सुविधाजनक होगा। परिणामस्वरूप शहर में दंगा भड़कता है जिसमें ब्राह्मण की कोमल त्वचा पर खरोंच आ जाती है। अचानक एक सदमे की तरह उसे अहसास होता है कि अब ब्राह्मण होना या पुरोहित होना कोई महत्व की बात नहीं है। उसकी जीविका चौपट हो जाती है और उसके साथ वह परंपरा भी मर जाती है जो हर परिस्थिति में उसके सदृश लोगों के लिए श्रद्धा का आग्रह रखती थी। अब ब्राह्मण का वजूद अनुल्लंघनीय नहीं रह गया है।

राहगीरों की लापरवाही और उदासीनता उस समय देखने लायक है जब अकाल की पीड़ा से एक अछूत की मौत हो जाती है, किंतु उनके कानों पर जूं नहीं रेंगती। इधर गंगाचरण की पत्नी गर्भवती है, उधर एक दूसरा ब्राह्मण जिसे वह गाहे-बेगाहे भोजन दे दिया करता था, अपने तमाम आश्रितों के साथ आ धमकता है। यह वही ब्राह्मण है जो स्वादिष्ट भोजन, मिट्टी की अच्छी झोपड़ी और अपने मित्र-पुरोहित की जैसी पत्नी से वंचित था। खैर, गंगाचरण उसे पूरी शालीनता के साथ स्वीकार करता है। तभी क्षितिज पर मनहूस लोगों का हुजूम

दिखता है जो मौत को गले लगाने के लिए आगे बढ़ता जा रहा है। इस भविष्यसूचक दृश्य के साथ ही पर्दे पर शीर्षक उभरता है जिसमें 1943 के अकाल में मरने वाले लोगों की संख्या 50 लाख बताई गयी है।

चारुलता के बाद के वर्षों में यह राय की पहली कालावधिक फिल्म है। ग्राम्य-जीवन की ओर राय की यह वापसी भी है और राय आश्चर्यजनक रूप से यहां आश्वस्त भी लगते हैं। आश्चर्यजनक इसलिए कि राय के मन में कहीं गहरे *पाथेर पांचाली* से कुछ इतर करने की बात जरूर रही होगी। स्मरण रहे कि *तीन कन्या* की दो अन्य कहानियों के अलावा *पाथेर पांचाली* राय की 1955 से लेकर 1973 के बीच एक मात्र ग्रामीण फिल्म थी। इस संदर्भ में *पोस्ट मास्टर* की बात की जा सकती है। यहां ग्राम्य जीवन का उत्कृष्ट किंतु अतिसंक्षिप्त चित्रण हुआ है। मुख्य नायक के इर्द-गिर्द शहरी नौकरानी और पोस्ट मास्टर की मौजूदगी के अतिरिक्त ग्राम्य-जीवन की कोई छटा नहीं दिखती तथा ग्रामवासी भी स्थानीय रंग उकेरने के लिए ही प्रयुक्त हुए हैं। *समाप्ति* की तरह यह फिल्म भी शहरी लोगों की दशा या दुर्दशा को ग्रामीण परिवेश में चित्रित करती है, *पाथेर पांचाली* की तरह न तो यह गांव के बारे में है, न ही इसमें ग्रामीण दृष्टि है। इस तरह *अशनि संकेत*, जो शुरू होने से पहले कई कई बार स्थगित होती रही, ही राय की बंगाली ग्राम्य जीवन की ओर पहली ठोस वापसी थी। इस फिल्म में राय के सामने अव्वल समस्या यह थी कि *पाथेर पांचाली* जैसे यथार्थबोध को, उस "प्रथम उत्कृष्ट उन्मुक्त आनंदानुभूति" के आदिम भाव का लाभ लिये बिना, कैसे चित्रित किया जाय।

रंग का सहारा लेकर और संदर्भ में परिवर्तन लाकर राय बड़ी चतुराई से इस फिल्म को अपनी पूर्ववर्ती फिल्मों के समकक्ष रखे जाने की समस्या से निजात पाते हैं। *पाथेर पांचाली* के विपरीत राय ने इस फिल्म में बादल लदे भू-दृश्यों के विस्तृत शॉट्स वाइड-एंगिल लैंस के द्वारा लिये हैं। नतीजन एक ऐसा केनवास बनता है जिसमें पारंपरिक बंगाली गांव की आभा भी दिखती है और अदृश्य अंतर्राष्ट्रीय शक्तियों का आभास भी मिलता है जिनकी वजह से यह अकाल आता है। यहां इन रंगों के माध्यम से, राय ने प्रकृति की समृद्धि और मानव द्वारा उपजाये गए अकाल के आंतक के अंतर्विरोध को दर्शाने की कोशिश की है। शीर्षक के उपयुक्त "दूरस्थ गर्जन" की योजना दुर्भिक्ष के आतंक को दर्शानेवाले दृश्यों को चित्रित करने की समस्या से राय को मुक्त कर देती है। रंग-विधान तथा भावी-दुर्भिक्ष की सूचना देने वाले "दूरस्थ गर्जन" के दृश्यों की संयुक्त ठोस ग्राह्यता त्रासदी के प्रभाव को कम करती प्रतीत होती है। प्रकृति और मनुष्य की मौजूदगी वहां ज्यादा संजीदगी के साथ उभरती है जहां हल्के रंगों की बजाय गाढ़े रंगों का प्रयोग होता है। इसके विपरीत अकाल के दृश्यों को जिस खास दूरी से देखा गया है, वह हमारी चेतना पर पर्याप्त प्रभाव नहीं डालता। न ही राय उस अंतर्विरोध की कठोरता और क्षयकारी विडंबना को उकेरने में सफल

हो पाते हैं जिसे वे दिखाना चाहते थे। अंतिम दृश्य, जिसमें आते हुए लोगों को मनहूस झुंडों में तब्दील होते दिखाया गया है, से जैसी नैतिक अपेक्षा की गई है, कमोबेश अतिरंजित ही लगती है। कथावस्तु की जैसी सुकुमार कल्पना की गयी है वह उस शीर्षक द्वारा की गयी है। हरित वर्ण की मदद से अंतर्विरोध की क्रूर विडंबना को संप्रेषित कर देना ही पर्याप्त नहीं है। इस समस्या के प्रकट होने की खास वजह यह है कि राय ने यहां दर्शकों के लिए अभियोग-पत्र जैसी अपेक्षा जगा दी है। अकाल की त्रासदी को उन्होंने वैयक्तिक स्तर-से उठाकर सामाजिक-राजनीतिक स्तर पर ला दिया है और यही कारण है कि अंत कमोबेश अर्ध-संवेदनशील और अलग से विचारित प्रतीत होता है। यदि वे अपने आपको वैयक्तिक त्रासदी के चित्रण तक ही सीमित रखते और सामाजिक वक्तव्यों के बारे में निष्कर्ष निकालने की छूट दर्शकों को दे देते, तब बहुत ही संभव था कि यह फिल्म उनकी विशिष्ट शैली को प्रतिबिंबित करने वाली एक बेहतर फिल्म होती।

किंतु अंत का यह योजनाबद्ध आयोजन फिल्म के पात्रों की अवधारणा की जीवंत उपस्थिति और उनमें तथा उनके समाज में आये परिवर्तन की वास्तविकता के भाव को अभिव्यक्त नहीं कर पाता। अगर कोई अकाल, या दोषारोपण के लिए गढ़े गये अंतिम निष्कर्ष की बात भुला दे तो वह निश्चय ही फिल्म की वास्तविक शक्ति से परिचित हो सकेगा।

अशनि संकेत गांव और उसकी जिंदगी को जिस फलक पर दिखाती है वह राय की किसी भी पूर्ववर्ती ग्रामीण फिल्म में देखने को नहीं मिलता। प्रत्येक दृश्य वास्तविक लगता है, यहां तक कि ये सीधी मार-धाड़ वाले दृश्यों में भी है जैसे खाद्य-विक्रेता और ग्राहकों के बीच नोंक-झोंक का दृश्य। अदृश्य शत्रु की अचानक मार से ग्रामीणों में जैसी दयातुर विवशता पैदा होती है, वह त्रासद रूप में हमारे सामने आती है। विषम परिस्थिति में औरतें जिस एकजुटता और शक्ति का प्रदर्शन करती हैं वह वाकई अद्भुत है। और इससे राय की कृति में एक नया आयाम फूटता है, यद्यपि इस आयाम की झलक *महानगर* में भी देखने को मिलती है। औरतें जानती हैं कि उनके मर्द न तो खुद का भरण-पोषण करने में समर्थ हैं न उन्हें खिला-पिला सकते हैं, परिस्थितियों के सामने वे बिल्कुल पराजित हैं और यह कि उनमें थोड़ी सी शक्ति शेष नहीं है जिस पर वे विश्वास कर सकें। औरतें अपनी रक्षा खुद करती हैं तथा एक-दूसरे को सुरक्षा प्रदान करती हैं। और तो और, वे एक बलात्कारी की पूर्णतया गुप्त रूप से हत्या भी कर देती हैं। बलात्कार की कोशिश और हत्या—दोनों की घटनाएं संकेतों में प्रेषित की गयी हैं, खासकर हत्या का फिल्मांकन जहां धारा में औरतों के साथ साथ लहू भी बहता रहता है। इस वारदात की भनक किसी को नहीं मिलती, खासकर उनके पतियों को तो बिल्कुल भी नहीं। एक औरत अपने आपको एक बदशक्ल आदमी के हाथों, कुछ कुछ अति नाटकीयता की तर्ज पर, सौंप देती है।

इसकी खबर सबको है लेकिन कोई कभी कुछ नहीं कहता। सबसे बड़ी बात यह है कि यहां औरतें अपने समृद्ध ऐंद्रिक सौंदर्य के साथ चित्रित हुई हैं। एक ऐसा चित्रण जिस की पुनरावृत्ति न राय की पूर्ववर्ती और न ही उत्तरवर्ती फिल्मों में देखने को मिलती है। वे उतनी ही सुंदर हैं जितनी कि उनके चारों तरफ फैली प्रकृति सुंदर है और प्रकृति की तरह उनमें भी जीने की गुप्त इच्छा और शक्ति है। मर्दों की तरह वे एक बार भी लाचार और कमजोर नहीं दिखतीं। गंगाचरण, जो कि एक नौजवान सुंदर ब्राह्मण है तथा जिसकी पत्नी भी काफी रूपवती है, के रूप में हम परंपराबद्ध ब्राह्मणवादी ग्राम्य मूल्यों को परिवर्तन की शक्तियों से टकराकर छिन्न-भिन्न होते देखते हैं। यूं तो टूटन की यह प्रक्रिया लंबे अर्से से बलवती हो रही थी, किंतु अकाल की संभावना से अचानक उसमें जैसे उबाल आ गया हो। मुट्ठी भर चावल, जो कल तक कितनी आसानी से उपलब्ध था, की तलाश में दर दर भटकने के बाद जब गंगाचरण को अंतिम बार भरपेट भोजन मिलता है तब शक की कोई गुंजाइश नहीं रह जाती कि ब्राह्मणों के प्रति पारंपरिक आदर अब किसी काम का नहीं रह गया है। गंगाचरण के अंदर का ब्राह्मण उस परिवर्तन की सच्चाई को भांप लेता है जो जातीय विशिष्टताओं को समाप्त कर सबको बराबर बनाने में समर्थ है। अछूत महिला को न छूने की तमाम वर्जनाओं को धता बताते हुए फिल्म के अंतिम दृश्य में गंगाचरण उस अछूत औरत मोती, जिसे वे कल तक छूत न लग सकने वाली दूरी से खाना देते थे, के बहुत पास आकर उसकी कलाई पकड़ लेता है और जानना चाहता है कि क्या वह अब भी जीवित है। पूरी तरह आश्वस्त हो जाने के बाद ही कि वह मर गयी है, गंगाचरण अपना हाथ धीरे धीरे नीचे ले जाता है और अंततः मोती की कलाई छोड़ देता है। यह एक ऐसा कृत्य है जिसके बारे में सामान्य अवस्था में सोचा भी नहीं जा सकता। किंतु गंगाचरण के अंदर कोई चीज बदल गई है। सामान्य अवस्था में वह जिन चीजों को जाति और वर्ग के खानों में बंटे देखता आया है, वे फिर उस रूप में नहीं आने वाली हैं, कम से कम पूर्ण रूप से तो नहीं ही। अकाल की संभावना से मानो सब कुछ बदल गया है।

फिल्म जब रिलीज हुई थी तो बहुतेरे उसके दृश्य सौंदर्य को लेकर सकते में आ गये थे, राय ने दर्शकों को फिल्म से जूझने के लिए बहुत कुछ अप्रत्याशित दे दिया था। आज के संदर्भ में देखा जाये तो फिल्म का सौंदर्य मानवीयता के साथ तल्ख है।

अब तक बंगाली सिनेमा की स्थिति, जो कुछ समय से बदल रही थी, उस कठिनाई का संकेत देने लगी थी जिसकी वजह से शहरी दर्शकों को श्वेत-श्याम चित्रों से संतुष्ट करना मुश्किल हो गया था, खासकर उन फिल्मों के लिए जो गीत और भावुकता से कवरेज शुद्ध व्यावसायिक फिल्में न थीं। बंबई में बनने वाली अखिल भारतीय हिन्दी फिल्में अपनी रंगीन चकाचौंध से बंगाली दर्शकों के बीच इस हद तक अतिक्रमण कर चुकी थीं कि श्वेत-श्याम

फिल्में हाशिए पर आ गयीं। पांचवें और छठे दशक के उत्तरार्द्ध के बेहद खुशगवार दिनों, जिनमें रचनात्मक सिनेमा के सुंदर भविष्य की आशा जगी थी और जिनका नेतृत्व राय, सेन और घटक कर रहे थे, के बाद शायद ही कोई प्रतिभा उभरकर सामने आई। वर्ष 1974 में ऋत्विक घटक की, उनकी असामयिक मृत्यु के दो वर्ष पहले, पूर्ण फीचर फिल्म *जुक्ति, तर्को गप्पो* आई। केवल पूर्णेन्दु पत्रेया अपनी फिल्म *स्त्रीर पत्र* के माध्यम से कुछ हद तक प्रतिष्ठा के दावेदार हो सके।

सोनार केल्ला (1974) के निर्माण के साथ ही राय बाल फिल्मों की ओर मुड़ गये थे। किंतु इस बार वे श्याम-श्वेत की बजाय रंगीन तथा स्वप्नकथा की जगह जासूसी कथा पर आधारित फिल्म लेकर आये थे। कहानी एक किशोर के बारे में है जिसे अपने पूर्व जन्म के स्थान की याद है तथा यह भी कि वह रत्नतराश का बेटा था। गुप्त-धन पाने के लालच में शिकारी उसके पीछे पड़ जाते हैं, किंतु राय के नायक, प्रदोष मित्तर (सौमित्र चटर्जी), किशोर सहायक तापस (सिद्धार्थ चटर्जी) और उनका अभिन्न मित्र और अपराध कहानियों का लेखक लालमोहन गांगुली (संतोष दत्ता) के सम्मिलित प्रयास से उनकी तरकीबें धरी की धरी रह जाती हैं। संभवतः राय की कहानी (स्वलिखित, तब तक राय ऐसी कहानियों के उर्जस्वित लेखक के रूप में स्थापित हो चुके थे) पात्रों को भारत के किसी भाग की यात्रा पर ले जाते हैं। कहानी यात्राभर सामान्य शैक्षिक जानकारी प्रदान करती है। इतनी जानकारी उनके पिता और पितामह नहीं दे पाते थे। यहां खुफियागिरी का सस्पेंस कभी भी अत्यधिक तनाव पैदा नहीं करता। प्रत्युत सब कुछ कमोबेश समताल पर आगे बढ़ता है, प्लॉट की जटिलता और तकनीकी बारीकियों की जगह पूरी फिल्म में एक शिशुवत सम्मोहन, सादगी और कौतुक भाव रहता है। हिंसा ही नहीं, सदमाकारी दृश्य भी भरसक दूर ही रखे गये हैं। और यही कारण है कि फिल्म बच्चों को तो पसंद आई ही, वयस्कों को भी पसंद आई। वयस्कों की दुनिया को लेकर बनी राय की फिल्मों में गर्मजोशी की जो स्पष्ट कमी दिखती है, लगता है, वह नन्हीं दुनिया में पनाह पा गयी है। गर्मजोशी ही नहीं वे मूल्य भी जिन से राय का लगाव है किंतु जो तेजी से हमारे परिवेश से गायब होते जा रहे हैं, इन बाल-फिल्मों में पनाह लिए हुए हैं।

दूसरे वर्ष *जन अरण्य* (1975), आती है और इसी के साथ शहरी परिवेश में राय की वापसी होती है। मानो राय *प्रतिद्वंद्वी* के अधूरे कार्यों को पूरा करना चाहते हों। इस बीच कलकत्ता भी बदल चुका है। बम और राजनीतिक हत्याओं का आतंक काफूर हो चुका है, किंतु जन-जीवन के स्तर में गिरावट आई है, कीमतें और बेरोजगारी बढ़ी है और शिक्षित मध्यवर्ग के पास बेहतर सामाजिक व्यवस्था की कोई आशा नहीं दिख रही। बेरोजगारी से निजात पाने की बेहतर प्रत्याशा के अभाव के बीच जो राजनीतिक स्थिरता कायम की गयी है उससे

जन-जीवन की निराशा और उदासीनता में कुछ बढ़ोत्तरी ही हुई है। शुरू का आशावादी उत्साह भी कोई कामयाबी नहीं दिला सका और आज व्यक्ति व्यक्ति के बीच एक और निंदा की दीवारें खड़ी हो गयी हैं।

सोमनाथ (प्रदीप मुखर्जी के रूप में नया चेहरा) अपने बड़े भाई, अपनी पत्नी और अपने अवकाश प्राप्त पिता के साथ रह रहा होता है। उसका परीक्षाफल प्रकाशित होता है जिसमें वह सफल तो हो जाता है किंतु वह "प्रतिष्ठा" हासिल नहीं कर पाता, जबकि इस "प्रतिष्ठा" का वह निश्चित हकदार था। पिता (सत्य बनर्जी) क्रोध में फुंफकारते हुए कहते हैं कि यह परीक्षकों की स्पष्ट लापरवाही का ही नतीजा है, किंतु बड़ा भाई (दीपांकर डे) ईमानदारी से आशा करने वाली इस पुरानी दलील की पूर्ववत खिल्ली उड़ाता है। उसका मानना है कि विरोध से कुछ भी हासिल होने वाला नहीं है, चीजें जैसी हैं वैसी हैं और हम जितना जल्दी उसे स्वीकार कर अपने हित साधन में प्रयोग कर सकें, उतना ही अच्छा। नौकरी-दर नौकरी के आवेदन पत्र भरते भरते सोमनाथ भी इसी दर्शन में यकीन रखने लगता है। उसकी प्रेमिका अपनी सामाजिक हैसियत जो सोमनाथ की हैसियत से ऊंची है, के किसी और लड़के के साथ शादी कर लेती है क्योंकि पारिवारिक दबाव के चलते सोमनाथ के जीवन के स्थापित होने तक वह इंतजार नहीं कर सकती थी। यह जानकर सोमनाथ का विषाद और नकार और भी बढ़ जाता है। तदनंतर वह अपने पूर्व परिचित एक व्यवसायी (उत्पल दत्त ने यह भूमिका निभाई है) से मिलता है। यह व्यवसायी इस नौजवान व्यक्ति की मदद करना चाहता है ताकि वह अपने पैरों पर खड़ा हो सके। वह एक जगह से खरीदकर दूसरी जगह बेचने का, दलाल का काम करने लगता है और छोटे स्तर पर उसे कुछ कामयाबी भी मिलती है। संकट की घड़ी भी तभी उपस्थित होती है। एक बड़े सौदे, जिससे उसकी पेशेवर जिंदगी को एक नया मोड़ मिल सकता है, में सोमनाथ को अपने कामुक ग्राहक के लिए एक सुंदर लड़की का बंदोबस्त करना है। सोमनाथ के पास दो ही विकल्प हैं—या तो इस घृणित अनैतिकता को स्वीकार कर ले या फिर अपने पेशे से हाथ धो ले। एक "जनसंपर्क दलाल" जो ऐसी तिकड़मों में माहिर है, सोमनाथ को उकसाता है। सोमनाथ दूसरे विकल्प के लिए तैयार हो जाता है। अंत में उसे ज्ञात होता है कि जिस लड़की को वह ग्राहक को सुपुर्द करने जा रहा है, वह उसके भूतपूर्व सबसे अच्छे मित्र की बहन है। इस स्थिति से वह लड़की विचलित नहीं होती। उसका इरादा सोमनाथ के इरादे को भी पक्का कर देता है। घर जाकर वह बताता है कि उसे अनुबंध मिल गया है। पिता की टिप्पणी होती है कि मेहनत की कदर दुनिया में आज भी है। तीन पुरुषों के लिए स्वघोषित माता उसकी साली (लिली चक्रवर्ती) को ही मालूम है कि इस सफलता के लिए उसे भारी भरकम रकम चुकानी पड़ी है।

टैगोर की उत्तरवर्ती और आजादी के बाद वाली पीढ़ी को समझने की राय की बारंबार

कोशिशें जो *अरण्येर दिनरात्रि* से शुरू होकर *सीमाबद्ध* और *प्रतिद्वंद्वी* तक जारी रहीं, *जन अरण्य* में आकर अपना उत्कर्ष प्राप्त करती हैं। यहां समय की सच्चाइयों से लुकाछिपी या मुंह चुराने के बजाय उससे सीधे दो-चार होने की दृढ़ कोशिश दिखती है। पहली बार कलकत्ता अपनी जीवंतता के साथ यहां उपस्थित होता है। शहर के मालिन्य और उसकी गंदगी के दर्शन तो हमें पहले शाट में ही हो जाते हैं। अब कैमरा शहर की तंग गलियों के दृश्य दिखाता है जिनमें एक दूसरे से सटी हुई पान और लस्सी की दुकानें हैं। यहां भीड़ के दृश्य *प्रतिद्वंद्वी* की तरह ऊपर से नहीं लिये गये हैं, अपितु पूरी भीड़ आंख की सीध में ही दिखती है। बिजली आती-जाती रहती है, टेलीफोन भी व्यर्थ पड़े हुए हैं तथा परीक्षाएं मखौल बन गयी हैं। फिर शुरू होती है कुक की सच्ची यात्रा। सोमनाथ और उसका जनसंपर्क दलाल अपने ग्राहक के लिए "कॉलगर्ल" की तलाश करते हैं—तो जिस्मफरोशी के अड्डों की खासी यात्राएं होती हैं। उनकी हर यात्रा *प्रतिद्वंद्वी* की तुलना में अधिक सूक्ष्म और वैविध्यपूर्ण है। दोनों ही फिल्मों में यौनाचार की काली दुनिया के तिलिस्मों के बीच एक खास तरह का भोलापन दिखता है। अपने लिए किसी लड़की की ख्वाहिश न तो सोमनाथ को है न ही उसके जनसंपर्क—विशेषज्ञ को। सच तो यह है कि उनके दिमाग में ऐसा विचार तक नहीं आता। यहां बेरोजगार उतना ही सख्त मिजाजी है जितना कि *सीमाबद्ध* का नियोक्ता। सोमनाथ की दुविधा का कारण उसकी अनुभवहीनता है, न कि निर्णयाभाव। उसके भोलेपन को कभी भी विस्मित होने का मौका नहीं मिलता, प्रत्युत वह सीधे पूर्ण भ्रष्टाचार में तब्दील हो जाता है। उसने अहसास कर लिया है कि इसके अतिरिक्त कोई और रास्ता नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक कमा ही लेना चाहिए।

जन अरण्य में सातवें दशक के तेवर की झांकी ही नहीं हैं, वरन उन पुराने मूल्यों के टूटने की त्रासदी भी है जिन्हें राय अपनी अन्य फिल्मों में महिमामंडित करते रहे थे। पिता इस फिल्म के नैतिक केंद्र हैं और उन्हीं के दृष्टिकोण से मूल्यों पर दृष्टिपात किया गया है। पिता द्वारा उच्चतर मूल्यों पर बात करने की कोशिश भी बड़े बेटे द्वारा अचानक ख़ारिज कर दी जाती है जिससे पिता को घोर तकलीफ होती है और उसकी इस विचारशून्यता पर बहू भी तिलमिला कर रह जाती है। सोमनाथ की शादी का प्रस्ताव, लाभों की पूरी सूची के साथ, लेकर जब एक परिचित आता है तो पिता कर्तव्यनिष्ठा के साथ इसकी सूचना पुत्र को देते हैं। किंतु अंत में पुत्र द्वारा प्रस्ताव के ठुकरा दिये जाने से पिता को चैन मिलता है। पिता सोमनाथ के परीक्षा-पत्रों को मंगाकर उनकी दोबारा जांच करवाना चाहते हैं। लेकिन तुरंत ही उन्हें विश्वास हो जाता है कि परीक्षक अपनी किसी भूल को स्वीकार नहीं करेंगे। वे भूल जाते हैं कि फिल्म निर्माता हमें पहले ही बता चुका है कि परीक्षक को अपने पड़ोसी से चश्मा नहीं मिल पाता और इसीलिए वह सोमनाथ के परीक्षा-पत्रों की जांच नहीं कर पाता है। वास्तव में पड़ोसी शहर से कहीं बाहर गया हुआ है। (यह हमें नहीं बताया

जाता कि परीक्षक अपनी थकी आंखों और लापरवाही से सोमनाथ के परीक्षा-पत्र को ही पढ़ने की कोशिश कर रहा होता है। तो भी, संदर्भ विशेष में यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यह सोमनाथ का ही परीक्षा-पत्र है) पिता, फिर भी विरोध और नैतिकबोध की पुरजोर वकालत करते रहते हैं। नतीजा, पिता-पुत्र के बीच संप्रेषण की बाधा उपस्थित हो जाती है। ठीक उसी समय जब सोमनाथ अपने ग्राहक के लिए एक लड़की का बंदोबस्त करता है, राय पर्दे पर अचानक पिता को दिखाते हैं। बिजली नदारद है, पिता मोमबत्ती के प्रकाश में बैठे हुए हैं, पार्श्व में रेडियो से किसी दैवी-निर्णय की सूचना देता हुआ टैगोर का गीत बज रहा है—"जंगल के वृक्षों पर अंधकार घना होता जा रहा है।" ऐसी किसी भी स्थिति के लिए टैगोर ने यह गीत नहीं लिखा था, तथापि राय यहां इसकी संगति इस तरह बिठाते हैं कि झकझोर देने वाला प्रभाव परिलक्षित होता है। गौरतलब है कि यहां विरोध करने वाला और घोर आशावादी व्यक्ति कोई नौजवान (जैसा कि बेनेगल की *अंकुर* में, सेन की *इंटरव्यू* में तथा घटक की *अजांत्रिक* में युवा नायक द्वारा पत्थर फेंकते दिखाया गया है), व्यक्ति न होकर एक बूढ़ा व्यक्ति है। अपनी पूर्ववर्ती आस्थावादी फिल्मों के विपरीत राय इस फिल्म में मूल्यों में आई गिरावट को पकड़ने की कोशिश करते हैं जिनकी वजह से जीवन के नये अर्थ उजागर हुए हैं। पॉलिन केल बड़ी चतुराई से *अरण्येर दिनरात्रि* के असीम की तुलना भ्रष्ट हुए अपु से करते हैं। सच तो यह है कि राय की समकालीन फिल्मों के सभी नायक-*प्रतिद्वंद्वी* का सिद्धार्थ, (*सीमाबद्ध* का श्यामलेन्दु तथा *जन अरण्य* का सोमनाथ अलग अलग रूपों में दिखते हैं। मानसिक रूप से वे सभी बौद्धिक तथा आत्मविश्लेषणकारी हैं। वे सभी आज के ब्राह्मण हैं, किंतु उनकी विशिष्ट विरासत अभी भी पूरी तरह नष्ट नहीं हुई है। सोमनाथ के व्यावसायिक जीवन के सहयोगी सदैव उसकी सहायता करने के लिए तत्पर रहते हैं क्योंकि उन्हें उसका भोलापन, उसका सुंदर व्यक्तित्व आकर्षित करता है तथापि इससे इन दुनियावी चालाक लोगों में मानवीयता होने का अहसास भी होने लगता है।

प्रतिद्वंद्वी के विपरीत इस फिल्म की गति काफी तेज है। फिल्म की संरचना में भी बेहतर सावधानी परिलक्षित होती है, कहानी कदम-दर-कदम बढ़ती हुई अपने उद्वेलित करने वाले उत्कर्ष को प्राप्त करती है। स्थितियों और संबंधों को एक एक कर इस बारीकी से चित्रित किया गया है कि दर्शक को आश्चर्य होता है कि आखिर राय ने उनके चित्रण में इतना लंबा समय क्यों लिया है। किंतु उस समय से फिल्म में अचानक तेजी आती है जब सोमनाथ केले के छिलकों पर फिसलकर गिरता है और उसकी मुलाकात व्यवसायी से होती है। यहीं से फिल्म की उड़ान शुरू होती है। कतिपय दृश्यों के चित्रण में राय ने जो समय लिया है, उसकी सार्थकता भी अब स्पष्ट होने लगती है। हां, सोमनाथ की महिला मित्र (अपर्णा सेन) के चित्रण में किए गए विलंब का कारण अब भी स्पष्ट नहीं है। फिल्म के

अन्य दृश्यों के विपरीत यह दृश्य वास्तविक भी नहीं लगता। यह एक नियोजित दृश्य है जिसे कहानी में येन-केन-प्रकारेण ठूंस दिया गया है ताकि नायक की वैयक्तिक स्नेहासक्ति और उसके पेशेवर जीवन के बीच संतुलन दिखाया जा सके। इसे लाया भी जाता था और समाप्त भी किया जाता था। फिल्म के अन्य दूसरे दृश्य करीब करीब स्वाभाविक रूप से ही आते हैं। इनमें वह आनंदकारी दृश्य भी है जिसमें मिसेज गांगुली (पद्मा देवी) अड्डे की लड़कियों का मुआयना कर रही होती हैं। फिल्म के दृश्यों को जीवंत बनाने में राय की विशेष तकनीक का भी हाथ है। राय ने यहां तीव्र प्रकाश तथा भीड़ भरी गलियों में हस्तनियोजित तस्वीरें ली हैं। ग्राहक से बेतकल्लुफ होने के क्रम में सोमनाथ रह रहकर दस्तानानुमा डिब्बे को बंद करता रहता है जिससे डिब्बे में रखी एक लड़की की अर्द्धनग्न तस्वीर दिखाई पड़ती है। सौदेबाजी की बात से आश्वस्त होकर सोमनाथ घर लौटता है। घर के बाहर एक बल्ब जल रहा होता है जिसमें सोमनाथ की छायाकृति बनती है। सोमनाथ से पहले उसकी छायाकृति घर में प्रवेश करती है। *जन अरण्य* में बुराई की जटिलता और गहराई का जैसा भाव मौजूद है वैसा राय की किसी भी अन्य फिल्म में नहीं है। *चारुलता* के बाद यह उनका सर्वाधिक महत्वपूर्ण वक्तव्य है। इसमें न केवल समझ की उनकी नयी खोज का चरम दिखाई देता है बल्कि व्यापार और रोजगार की दुनिया का जायजा लेने वाले नगरीय जीवन पर बनी उनकी तीन फिल्मों का चरम भी यहीं दिखाई देगा।

1975 में *जन अरण्य* के निर्माण के बड़े प्रयास के पश्चात राय 1976 में भरतनाट्यम की सुप्रसिद्ध नृत्यांगना बालासरस्वती पर आधे घंटे का वृत्तचित्र बनाने के अतिरिक्त कुछ नहीं कर पाये। बालासरस्वती की उम्र तब 59 वर्ष थी। *इनर आई* की ही तरह, यह फिल्म कलाकार के अतीत और उसके उपलब्धिपूर्ण दिनों पर दृष्टिपात करती है। चित्रकार के लिए जो महत्व आंखों का है, वही महत्व नृत्यांगना के लिए उसकी युवावस्था का है। सक्रिय कलाकार की त्रासदी आईना देखती नृत्यांगना की निर्मल आंखों से बयान हो जाती है। पार्श्व में राय की आवाज कुछ यूं बयान करती प्रतीत होती है—"बालासरस्वती अब 59 साल की हो गई हैं। तथापि वे आज भी नृत्य करती हैं। आज शाम वे वर्णम् प्रस्तुत करने जा रही हैं। याद रहे, वर्णम् भरतनाट्यम का सबसे दुरुह अंश माना जाता है।" इसके साथ ही राय दृश्यांतर करते हैं। अब वे बालासरस्वती की युवावस्था की तस्वीरें दिखाते हैं, उनकी उपलब्धियों को प्रस्तुत करते हैं कि, अंततः बाला भरतनाट्यम की मशहूर नृत्यांगना कैसे बनी और विदेश में उन्हें भरपूर ख्याति कैसे मिली। यह फिल्म का एक अत्यंत सुंदर क्षण है। तथापि कतिपय नृत्य-दृश्य ऐसे हैं जिनसे दर्शक को किंचित निराशा होती है। *पदम*—"कृष्णणि बेगानी बारो"—की प्रस्तुति समुद्र तट पर होती है। समुद्र के विशाल फैलाव और पार्श्व में अनंत आकाश के संयोजन के पीछे राय की स्पष्ट मंशा संभवतः नृत्य के ब्रह्मांडीय आयामों को दिखाने की रही हो। किंतु प्रभाव पूरी तरह उजागर नहीं होता, क्योंकि

एक तो रेत पर नृत्य मुश्किल है दूसरे तेज हवा नायिका की साड़ी को उड़ाए लिये जा रही है। इसी तरह नृत्य-पदों खासकर अंतिम वर्णन के फिल्मांकन में राय ने अपनी जिस चिरपरिचित-शैली का प्रयोग किया है, जिसमें न तो सेट बदलता है न ही कैमरे की दूरी और कोण बदलते हैं। यहां द्विआयामी माध्यम सिनेमा त्रिआयामी अनुभवों की महत्ता को ठीक से समेट नहीं पाता है। नृत्यांगना की उम्र समस्या को ओर बढ़ा देती है। दर्शक कैमरे पर प्रस्तुत सपाट नृत्य के साथ *जलसा घर* की धुनों पर गाये गये गान के संयोजन को चाहकर भी भुला नहीं पाता।

हालांकि यह शैली *शतरंज के खिलाड़ी* में सफल होती दिखती है क्योंकि नृत्यांगना सरस्वती तुलनात्मक रूप से कम वय की है और राय भी "स्थिर कैमरे" के प्रति यहां उतने हठी नहीं हैं। यहां नृत्य असाधारण ढंग से सुंदर बन पड़ा है और नृत्य की कमांत छटा अंतिम मुगल बादशाह के पतन का स्पष्ट संकेत भी कर देती है। ब्रितानी रेसीडेन्ट, जनरल ऑटरैम (यह भूमिका पूरी शिद्दत के साथ निभाई गई है तथा इसमें रिचर्ड एटनबरो का दोषपूर्ण इतिहास बोध भी व्यंजित हुआ है) से मिलकर अभी अभी लौटा है। जनरल ऑटरैम की इच्छा है कि अवध के नवाब अंग्रेजों के सामने आत्म-समर्पण कर दें। नवाब के कानों पर तब भी जूं नहीं रेंगती। यह जानकर शिष्ट मंत्री की आंखों में आंसू छलछला आते हैं, वह किंकर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति में युवा नृत्यांगना की अद्‌भुत थिरकन को देखने लगता है। नृत्य के साथ निष्कलुष संगत देता हुआ बिरजू महाराज का समृद्ध और कोमल स्वर पूरे वातावरण को सजीवता प्रदान कर रहा है। जनरल ऑटरैम की गर्जना के विपरीत, संगीत और नृत्य में कहीं भी कोई दोषपूर्ण विसंगति नहीं है। यहां सब कुछ उदात्त है, गलत है तो केवल समय। नवाब पर इतिहास की शक्तियां भारी पड़ रही हैं। नवाब स्वभाव से कवि, विद्वान और सुसंस्कृत व्यक्ति तो है ही, सौंदर्य का पारखी भी है। उसे समझते देर नहीं लगती कि डूबते मुगलिया राज की तमाम विकृतियों को दूर करने के लिए वह पैदा नहीं हुआ है। ये विकृतियां कोई एक दिन में पैदा नहीं हुई हैं, अपितु कई कई दशकों या पूरी एक शताब्दी में पैदा हुई हैं।

राय वर्षों तक हिंदी में फिल्म बनाने के प्रस्तावों की अनसुनी करते रहे। हिंदी भाषा की उन्हें कोई जानकारी नहीं थी और इसीलिए वे जानते थे कि भाषा की यह गैरजानकारी फिल्म-निर्माण की उनकी निजी शैली को रास नहीं आएगी। अभी तक उनकी फिल्मों में एक भी ऐसा संवाद नहीं था, जिसे उन्होंने खुद न लिखा हो। लेकिन *शतरंज के खिलाड़ी* में वे ऐसा नहीं कर सके। अंशतः रंगीन माध्यम में काम करने की जरूरत से तो शायद अंशतः उस विशिष्ट कालावधि और परिदृश्य की व्यापकता के आकर्षण से अनुप्राणित होकर राय ने न केवल हिन्दी वरन वाजिद अली शाह के जमाने की शिष्ट उर्दू में फिल्म

बनाना स्वीकार किया।

मुंशी प्रेमचंद्र की यह मशहूर कहानी अपने कलेवर में अत्यंत संक्षिप्त है। कहानी एक महत्वपूर्ण विरोधाभास का महज रेखांकन करती है कि कैसे, जब अंग्रेजों द्वारा लखनऊ पददलित किया जा रहा था, दो नवाबों ने शतरंज के खेल में अपनी पूरी जिदंगी खपा दी।

भाषा की जानकारी नहीं होने का ही नतीजा था कि राय को इस फिल्म में दूसरों की सहायता लेनी पड़ी, तथापि उन्होंने इस फिल्म में ख्यातिलब्ध और उम्दे कलाकारों को ही भूमिकाएं सौंपी थीं। नवाब की भूमिका में अमजद खान जो कि समकालीन लोकप्रिय हिन्दी फिल्मों के ठप्पेदार खलनायक के रूप में मशहूर थे तथा जिनसे दर्शक स्नेहित घृणा करते थे, खासे उम्दा लगे। दोनों नवाबों की भूमिकाओं में जिन्हें क्रमशः संजीव कुमार तथा सईद जाफरी ने निभाया है, भी अभिनय की दृष्टि से उत्कृष्ट हैं। फिर भी जाफरी के अभिनय में लखनऊ की शिष्ट वाक्पटुता तथा संस्कार (परिष्करण) की ज़्यादा सच्ची अभिव्यक्ति हुई है।

राय के लिए यह फिल्म अनोखी संरचना वाली कही जा सकती है। फिल्म में एक दूसरे को काटती हुई दो गांठे हैं—वृत्तचित्र के रूप में और कथेतर के रूप में। इतिहास और उसकी पीठिका के बारे में राय ने खुद ही गहन शोध किये थे। और इसी शोध का नतीजा था कि वे लार्ड डलहौजी की सेना जो अंततः लखनऊ आती है—के अतिक्रमणों का सिलसिलेवार और सूक्ष्म चित्रण कर सके तथा साथ ही जनरल ऑटरैम की साजिशों और तिकड़मों को दिखा सके। अंग्रेजों की कारस्तानी जहां कथोपकथन में महत्तर बलाघात तथा अनुप्रेरणा के विश्लेषण के माध्यम से दिखायी गयी है वहीं भारतीय पक्ष जो संभवतः कम वर्णित है, ज्यादा सांकेतिक है। रचना की यह खास कमजोरी—राय की फिल्मों में ऐसी कमजोरी बिरले ही देखने को मिलती है—समवत प्रभाव पैदा नहीं होने देती। यद्यपि कहानी के भारतीय पक्ष से जुड़ी भावना को बड़े ही सूक्ष्म रूप में पकड़ने की कोशिश की गयी है तथापि तथ्यों के विवरण में न तो कोई बारीकी है और न ही वे एक-दूसरे से जुड़े हैं।

पेशेवर जिंदगी में राय पहली दफा अपनी कठोर वर्णनात्मक शैली के बाहर भटकते हुए दिखते हैं। *नायक* की बात छोड़ दें तो राय की फिल्मों में प्रत्यावलोकन भी नहीं होते (सर्वजया के लिए निश्चिन्दीपुर में जीवन के कल्पनालोकों में शामिल होना तब कितना आसान हो गया होता!), *प्रतिद्वंद्वी* के अलावा राय की किसी अन्य फिल्म में सदिच्छा को मूर्त करने के लिए कोई हठात कोशिश भी नहीं है। उनकी सर्वोत्तम फिल्में अपनी संरचना में कालबद्ध प्रतीत होती हैं। रूपाकार देने की इस बारीकी के पीछे मजबूत सिलसिलेवार बुनियाद है। उनके कार्य की इस विशेषता को देखते हुए लगता है कि राय *शतरंज के खिलाड़ी* में कई कई गेंदों से एक ही साथ खेलने की बाजीगरी दिखा रहे हों।

फिर भी, ऐतिहासिक घटनाओं की समझ की सदैव मौजूदगी है, साथ ही परिदृश्य की

विराटता तथा उसके वर्णन में भावुक प्रेम संबंध भी है। जनरल की भिड़ंत जब पर्दे में छुपी नवाब की अम्मीजान से होती है तो पर्दे पर ऐतिहासिक मर्यादा की याद दिलाती एक अदृश्य आवाज गूंजती है। इस आवाज को सुनकर जनरल को पीड़ादायक अनुभूति होती है कि वह कितना कमीना है। ऑटरैम से अपनी मुलाकात में नवाब भी उसकी नीचता का अहसास कराता है। नवाब अपना सिंहासन ऑटरैम को सौंपने का प्रस्ताव तो करता है किंतु घिनौनी संधि पर हस्ताक्षर करने से इंकार कर देता है। दोनों पत्नियों की छद्म लालसा—एक का अपने पति के लिए और दूसरी का अपने प्रेम के लिए—उस विरोधाभास को और भी तल्खी से उभार देता है जो राजा के क्रिया-कलाप में समाहित है। उनकी आंखों के सामने ही उनकी दरबारी जीवन-शैली की बुनियाद भी है—दुश्मनों के हाथों खिसकती जा रही है, लेकिन नवाब शतरंज के खेल में मशगूल रहता है।

संकट की इस घड़ी में, पत्नियों की अतृप्त (अतृप्य?) यौन-याचना सामंतों की नपुंसकता को कटु विडंबना के साथ उजागर करती है। मिर्जा की नपुंसकता अगर हास्यास्पद है तो मीर का अपनी पत्नी के परपुरुष से संबंधों से बेखबर या अंजान बने रहना भी हास्यास्पद है। मजे की बात तो यह है कि मीर साहिब खुद अपनी पत्नी और उसके माशूक को हमबिस्तर होते देख चुके हैं। नपुंसक और व्यभिचारी पति भारतीय शैली में शतरंज खेल रहे होते हैं, और उधर राजशाही धराशायी होती है। अंत में, जब अंग्रेज लखनऊ में प्रवेश कर जाते हैं तब भी वे शतरंज खेल रहे होते हैं, किंतु इस बार वे ब्रितानी शैली का शतरंज खेलते हैं।

पत्नी काम की इच्छा करती है और मिर्जा शतरंज का वह दांव पूरा करना चाहते हैं जिसे वे दिलचस्प मोड़ पर छोड़ आये थे। मिर्जा और उनकी पत्नी की बातचीत निकृष्टताओं एवं विडंबनाओं से भरी हुई है :

खुर्शीद (मिर्जा की पत्नी) : वही खेल। ऐसे खेल को आग लगे।

मिर्जा : किंतु क्यों? यह तो अद्भुत खेल है—जानती ही हो कि एक हिंदुस्तानी ने इस खेल को ईजाद किया था और आज पूरी दुनिया खेलती है।

खुर्शीद : तब यह पूरी दुनिया ही कमीनी है।

मिर्जा : कमीनी? तुम जानती हो कि जब से मैंने शतरंज खेलना शुरू किया है तब से मेरी चिंतन-शक्ति में सैकड़ों गुना इजाफा हुआ है।

बीवियों को रति-क्रीड़ा चाहिए और खाविंदों को शतरंज। दोनों की अंततः पैरों के नीचे खिसकती जमीन के एहसास से आजाद होने के पलायनवादी रास्ते हैं। मिर्जा की नपुंसकता और मीर की बीवी के काले कारनामे—दोनों ही हास्यास्पद हैं। *शतरंज के खिलाड़ी* का यह यौन-प्रहसन राय के पेशेवर जीवन की अनूठी घटना है।

हालांकि यह सत्यजीत राय की किसी भी अन्य फिल्म से ज्यादा बजट की फिल्म थी

ऊपर : राय (एकदम बायें) *पाथेर पांचाली* की शूटिंग करते हुए; सुब्रत मित्रा, कैमरामैन, बायें से तीसरे

नीचे : *पाथेर पांचाली* : दुर्गा चोरी किए हुए फलों को वृद्धा को देते हुए (चुनीबाला देवी)

ऊपर : *पाथेर पांचाली* : अपु और दुर्गा अलसी के खेत में जहां वे अपने जीवन में पहली बार रेलगाड़ी देखते हैं।

नीचे : *पाथेर पांचाली* : समय कठिन है और सर्वजया, अपु की मां, और दुर्गा को अपने बीच वृद्धा की उपस्थिति असहनीय हो जाती है।
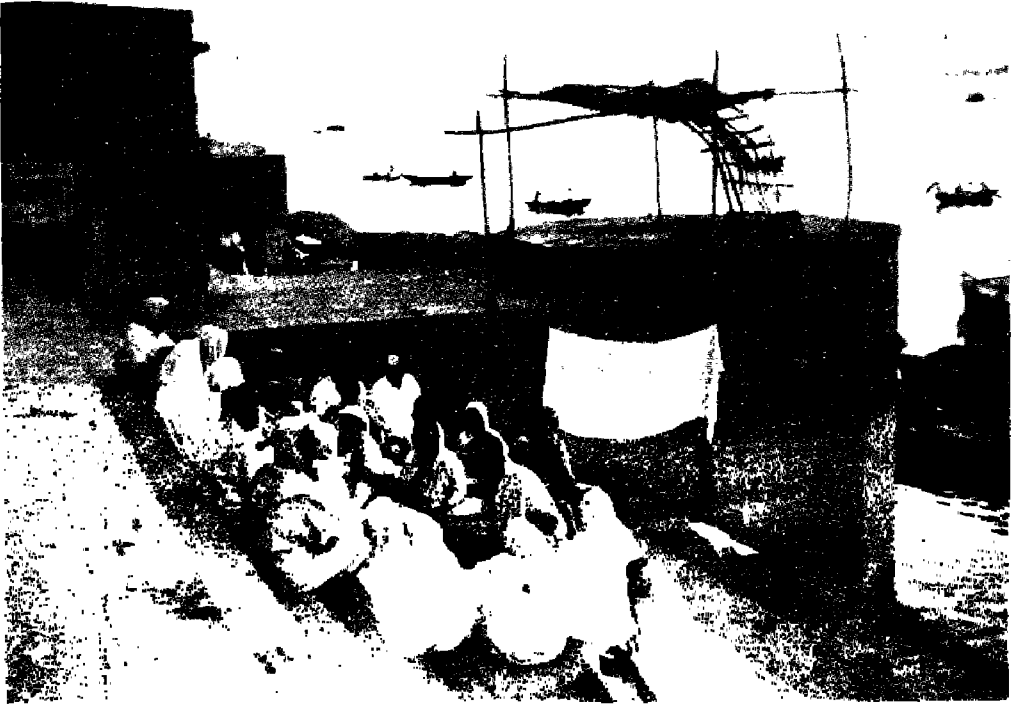
ऊपर : *अपराजितो* : महिलाएं, विशेषत : विधवाएं, बनारस में गंगा घाट की सीढ़ियों पर बैठी हुई जहां हरिहर, अपु का पिता, अब नदी किनारे रहने लगा है।

नीचे : *अपराजितो* : सर्वजया (करुणा बनर्जी) अपने पति हरिहर (कनु बनर्जी) के मुंह में मरते समय गंगाजल डालते हुए, जबकि अपु (सुबीर बनर्जी) उन्हें देख रहा है।

ऊपर : *अपराजितो* : सर्वजया और अपु अपने पिता की मृत्यु के बाद

नीचे : *अपराजितो* : अपु अपने पिता के कार्य, पुरोहिताई, को सीखने का प्रयत्न करते हुए

ऊपर : *पारस पत्थर* : गरीब क्लर्क (तुलसी चक्रवर्ती) आश्चर्यचकित रह गया जब पारस पत्थर से छूने पर धातु सोने में बदल गई

नीचे : *पारस पत्थर* : क्लर्क, जो पारस पत्थर पाने के बाद अमीर हो जाता है, अपने सचिव (काली बनर्जी) के साथ

ऊपर : *जलसा घर* : विशम्भर राय (छवि विश्वास) अपने अतीत के वैभव की अंतिम निशानी, हाथी, को देखते हुए।

नीचे : *जलसा घर* : विशम्भर राय, समाप्त होते हुए जमींदार (हुक्का पीते हुए) अपनी अंतिम नृत्य रंगशाला में कल के नवाब पूंजीपति (गंगापद बसु) के साथ बैठे हैं।

ऊपर : *अपुर संसार* : अपर्णा (शर्मिला टैगोर) अपु के घर पहुंचने के तुरंत बाद। अपु के साथ उसकी शादी विषम घटनाओं का परिणाम थी।

नीचे : *अपुर संसार* : शादी के बाद प्यार। अपु (सौमित्र चटर्जी, दायें) और अपर्णा

ऊपर : *अपुर संसार* : अपर्णा की मृत्यु के बाद, उद्विग्न अपु अपने बेटे को पुन : अपनाने से पहले लंबे समय तक अकेला भटकता रहा।

नीचे : *अपुर संसार* : बहुत समय तक अविश्वास करने के बाद काजल (आलोक चक्रवर्ती) ने अपने पिता को स्वीकार लिया और उनके साथ चल दिया।

ऊपर : *देवी* : मां काली का अनन्य भक्त, अमीर बूढ़ा जमींदार, काली किंकर

नीचे : *देवी* : काली किंकर को विश्वास था कि उसकी खूबसूरत पुत्रवधू (शर्मिला टैगोर) मां काली का अवतार है।
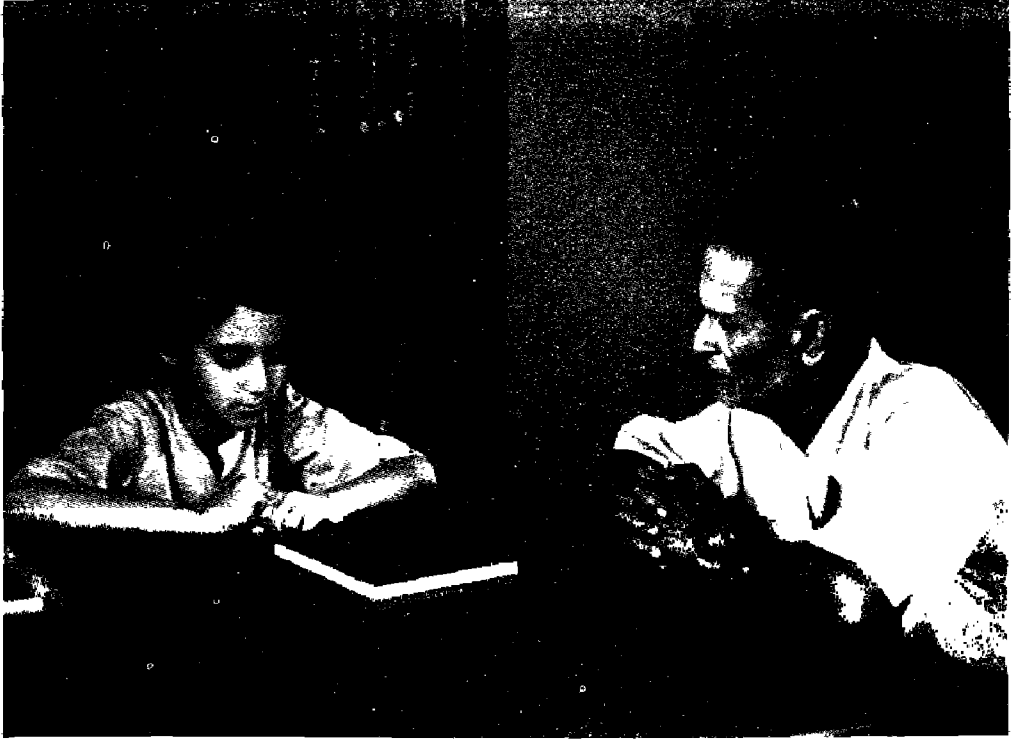
ऊपर : *रवीन्द्रनाथ टैगोर* : बालक रवीन्द्रनाथ एक शिक्षक से पढ़ते हुए

नीचे : *तीन कन्या* : शिष्ट जमींदार (काली बनर्जी) और उसकी गहनों के प्रति उन्मादी पत्नी (कनिका मजूमदार) *मनीहार* में

ऊपर : *तीन कन्या* : नौकरानी रतन (चंदन बनर्जी) रसोईघर में काम करते हुए (*पोस्टमास्टर*)

नीचे : *तीन कन्या* : मृणमयी (अपर्णा सेन), एक मर्दानी लड़की जो *संपत्ति* में पहले शादी से इंकार कर देती है।

ऊपर : *कंचनजंघा* : उपनिवेशवादी गोरे साहब की बड़ी बेटी (अनुभा गुप्ता), पैसे और प्रतिष्ठा के लोभ में शादी तो कर लेती है पर अपने पति (सुब्रत सेन) के साथ जीवन नहीं काट सकती

नीचे : *अभियान* : नए शहर में टैक्सी चलाने का काम शुरू करने पर नरसिंह (सौमित्र चटर्जी) को कई दिक्कतें सहनी पड़ीं
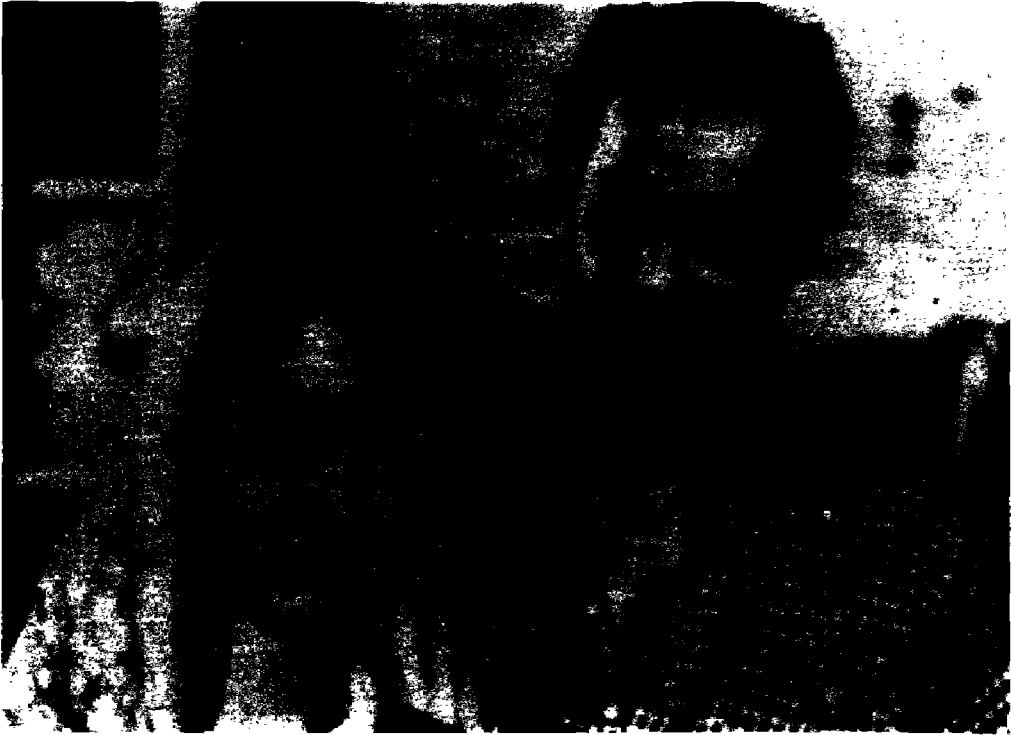
ऊपर : *अभियान* : कई उत्साही प्रस्तावों के बाद भी नरसिंह ने गुलाबी (वहीदा रहमान) को ही चुना। यह विनम्र महिला उसे लंबे समय से प्यार करती थी।

नीचे : *महानगर* : पति (अनिल चटर्जी) अपनी पत्नी आरती (माधवी मुखर्जी) के लिए एक विज्ञापन तलाशते हुए; जबकि उसकी बहन (जया भादुड़ी) उसे निहार रही है।

ऊपर : *महानगर* : अपरिचित परिवेश में आरती खुद को विश्वस्त अनुभव नहीं करती

नीचे : *महानगर* : आरती अपने एक परिचित के साथ रेस्तरां में जाती है, जहां उसका पति कुछ दूरी से उसकी निगरानी करता है।

ऊपर : *महानगर* : आरती के हाथ में उसका नियुक्ति पत्र

नीचे : *चारुलता* : एकाकी चारु (माधवी मुखर्जी) के लिए उसका पति अपने चचेरे भाई अमल (सौमित्र चटर्जी) का शिक्षक-साथी के रूप में प्रबंध करता है।

ऊपर : *चारुलता* : चारु को महसूस होता है कि वह अपने पति के चचेरे भाई से प्रेम करने लगी है।

नीचे : *चारुलता* : अमल के चले जाने के बाद चारु और भूपति (शैलेन मुखर्जी)

जिसमें हिंदी फिल्मों के अति लोकप्रिय सितारों ने भूमिकाएं की थीं, फिर भी कलकत्ता को छोड़कर जहां इसने कमोबेश अच्छा व्यवसाय दिया था, *शतरंज के खिलाड़ी* कहीं भी एकमुश्त बड़े माने पर रिलीज नहीं हो पाई। ढेर सारी आलोचनाएं भी मिलीं, खासकर उन लोगों की जो वाजिद अली शाह को "भारत का अंतिम स्वायत्त शासक" के रूप में महिमामंडित होते देखना चाहते थे। इस विषय पर एक साक्षात्कार के दौरान अपनी राय जाहिर करते हुए सत्यजीत राय ने कहा था :

"बहुत ही संभव है कि अवध के अतिक्रमण की घटना कोई ऐसा चित्रण करे जिसमें वाजिद अली शाह का महिमामंडन हो तथा ऑटरैम की भर्त्सना। ऐसे चित्रण से, जाहिर है, फिल्म की लोकप्रियता में स्वतः इजाफा हो जाता। मेरी फिल्म इस अयथार्थवादी चित्रण से मुक्त है। यह फिल्म उस प्रवृत्ति को भी हतोत्साहित करती है जो सामंतवाद और उपनिवेशवाद के प्रति मायूस किंतु "स्वीकृत प्रक्रिया" के रूप में अक्सर उनकी कमियों को नजरअंदाज कर देती है या फिर उनकी बुराइयों को समझने के साथ साथ उनके चरित्रों में खास मानवीय प्रवृत्तियां देखने का आग्रह करती है। इन मानवीय प्रवृत्तियों का अन्वेषण नहीं किया जाता, बल्कि ऐतिहासिक साक्ष्य से उन्हें पुष्ट किया जाता है। मैं जानता था कि ऐसे चित्रण से मनोवृत्ति का द्वंध पैदा होगा तथापि *शतरंज के खिलाड़ी* को मैं ऐसी कहानी नहीं मानता जिसमें आसानी से किसी एक पक्ष का हिमायती बना जा सके। यह कहानी मेरे लिए विचारोत्तेजक ज्यादा है जिसमें दो संस्कृतियों की टकराहट है—एक निष्प्राण और अप्रभावी संस्कृति है तो दूसरी अमंगलकारी किंतु ऊर्जस्वित। इन दो धुर छोरों की उन अर्द्ध अर्धच्छायाओं को भी पकड़ने की कोशिश की है जो इन दोनों छोरों के बीच झलकती हैं।

यह फिल्म दृष्टि की गहराई, हाजिरजवाबी तथा सूक्ष्म इतिहास-बोध की विशिष्ट परिणति है। तथापि इसने दर्शकों, जिसमें संभ्रांत वर्ग के दर्शक शामिल हैं, की उच्चतर अपेक्षाओं को अपनी अतिसूक्ष्म चित्रण की उत्कृष्टता से ऐसे विफल किया है कि इसके भाव और कथन की सच्चाई को समझे जाने के लिए भविष्य में किसी नयी खोज की प्रतीक्षा करनी होगी।

इसके बाद की फिल्म *जय बाबा फेलुनाथ* में *सोनार केल्ला* की शैली और चरित्रों की पुनरावृत्ति होती है। यह कहानी बनारस की है और यह राय को *अपराजितो* के बाद बनारस आने का एक और मौका देती है। किंतु राय के हाथों में इस बार रंगीन कैमरा होता है। खलनायक की भूमिका में उत्पल दत्त ने आकर्षक अभिनय किया है, अर्जुन की भूमिका में कानु मुखर्जी केवल आंखों की वक्रता से अपनी दुर्भावना का इजहार करते हुए,

बिना किसी हो-हल्ला के छूरा फेंकता है जबकि खुद खांसी से बेदम भी होता जा रहा है। कहानीकार संतोष दत्त की लेखनी में एक चमत्कारी विशिष्टता है जिसकी वजह से वे अत्यंत सहज चीजों के चित्रण में भी उत्सुकता और विश्वसनीयता साथ साथ पैदा कर लेते हैं। कामिक्स की दीवानगी में जकड़े युवा की भूमिका में जीत बोस ने प्रशंसनीय काम किया है। पहले की तरह यहां भी दुविधा की स्थिति के प्रसंग सामान्य स्तर के हैं, हिंसा भी परीकथाओं वाली है तथा घटनाएं आनंदकारी हैं। *सोनार केल्ला* की तुलना में इस फिल्म में आकर्षण ज्यादा है और विभिन्न परिघटनाओं के चित्रण में सहज प्रवाह भी ज्यादा है। स्थान की अन्विति भी यहां मददगार साबित हुई है और *अपराजितो* की तरह यहां भी बनारस, जो कि राय की पुरानी क्रीड़ा-स्थली है, की भूमिका प्रभावी बन पड़ी है।

बच्चों के लिए ऐसे आनंदकारी करतबों के प्रति राय का यह अनुराग यहां और मुखर हुआ है *जय बाबा फेलुनाथ* की अनुवर्ती फिल्म *हीरक राजार देशे* (1979) वास्तव में *गोपी गायने बाघा बायने* की रंगों में प्रस्तुत उत्तर कथा ही है।

बच्चों के बीच *गोपी गायने* की भारी लोकप्रियता ने, बहुत ही संभव है कि राय को उस चिरअनुभूत खालीपन को भरने के लिए उकसाया होगा जो पितामह, पिता और अन्य बाल कहानीकारों की मौत से उनके अंदर पल रहा था। *हीरक राजार देशे* में वे कथोपकथनों को लयबद्ध करने की एक अतिरिक्त विधा का सूत्रपात भी करते हैं। राय को स्वरोपित सीमाओं की भी खूब परख है और यही कारण है कि उनका अनवरत गवेषणात्मक मानस यहां एक नयी गेंद के साथ बाजीगरी कर रंगरेलियां मनाता है। *गोपी गायने बाघा बायने* की तरह यहां भी गीत उसी आत्मविश्वास से लिखे गये हैं—सामान्य शब्दों का गहन प्रभावी प्रयोग। पाश्चात्य गीति-नाट्य शैलियों की उनकी जानकारी उन्हें गीतों को नाटकीय ढंग से समायोजित करने में मदद तो करती ही है, बड़ी चतुराई से उनके राग शब्दों के अर्थ भी खोल देते हैं। इन रागों के स्रोत भारतीय संगीत परंपरा के विविध यथा, शास्त्रीय, लोक तथा धार्मिक रूप ही हैं।

इस प्रयोगधर्मिता के बावजूद फिल्म अति उपदेशात्मक होने की वजह से कहीं कहीं बोझिल भी हो गयी है। एक बात और। गोपी और बाघा की भोली दुनिया में जिस तरह अतिसरलीकृत और योजनाबद्ध क्रांति की भावना को उकेरने की कोशिश की गयी है, वह इसे राय की अन्य बाल-फिल्मों में सबसे कमजोर फिल्म बना देती है। बच्चों की दुनिया अब भोलेपन की अंतिम पनाह नहीं रही, क्योंकि गोपी और बाघा के रूप में वह बालक अब अति उपदेशात्मक हो गया है।

भोलेपन का वह लोप [illegible] *पिकू* (1980)—जो फ्रांसीसी टेलीविजन के लिए 25 मिनट के वृत्तचित्र के [illegible] हुई है—में उजागर होता है। बालक यहां वयस्कों

की दुनिया के जाल में फंसा हुआ भी दिखता है और उससे विरक्त भी। यह विरक्ति माता-पिता के संबंधों की पारंपरिक कटुता तथा माता के अपने प्रेमी के साथ आशिकी की वजह से पैदा हुई है। कहना न होगा कि ये दोनों ही चीजें उसके लिए अबूझ हैं। बूढ़े और अवश दादा की मौत की आशंका से भी बालक को लड़ना पड़ता है। एक भावुक क्षण में वह अपनी दाईं भुजा की तुलना वृद्ध से करता है, उसे घोर अचरज होता है कि क्यों उसकी भुजा कोमल और गोल है जबकि पितामह की इतनी दुर्बल है मानो नसें डर से बाहर निकलना चाहती हैं। इन घटनाओं का समेकित प्रभाव यह होता है कि बालक अपना मन मसोसकर चित्रकला के साथ मूक संप्रेषण स्थापित कर लेता है। बचपन और वृद्धावस्था का यह वैषम्य जिसमें प्रकृति और जीवन का अथाह अगोचर रहस्य छिपा हुआ है—राय को सदैव रोमांचित करता रहा है। पहली दफा इस रहस्य से हमारा साक्षात्कार *पाथेर पांचाली* में होता है जहां बूढ़ी-कमजोर चाची की मौत बच्चों के उस रोमांच के तुरंत बाद होती है जो पहली दफा रेलगाड़ी देखने की वजह से उनमें पैदा हुआ है। यह सब कुछ "पूर्ण वैषम्य का सदमा" की तरह होता है। यहां एक बार फिर यह प्रकट होता है—वैषम्य के रूप में नहीं अपितु बालक के इर्द-गिर्द घटने वाली घटनाओं के प्रवाह की गूढ़ पहेली के रूप में। पिकू को जिंदगी और मौत को निर्धारित करने वाली प्रक्रियाओं की कठोरता का आभास है। बालक का यह आत्माभिज्ञान उन घटनाओं की महत्ता को कम कर देता है जिनसे तदनंतर हमारी मुठभेड़ होती है। पिकू के दिमाग के अव्यक्त प्रश्न जितने खुद के लिए बुनियादी हैं उतने ही उस वयस्क दुनिया के लिए भी जो सोचना बंद कर देती है। वास्तव में बच्चे के साथ साथ हम भी उन प्रश्नों पर सोचने के लिए मजबूर होते हैं जिनसे आंखें चुराने की हम लगातार कोशिश करते रहते हैं। *कठोपनिषद* की दार्शनिक गवेषणा में नचिकेता के जिस आद्यप्ररूपीय शिशु-मानस के दर्शन होते हैं, उसी मानस का कवित्तपूर्ण उद्बोधन हमें इस फिल्म में देखने को मिलता है : मृत्यु क्या है? पिकू के जीवन में घटने वाली घटनाओं से जो प्रतिध्वनित होता है उसमें भी इसी प्रश्न की खोज का प्रयास परिव्याप्त है। हम इससे प्रभावित होते हैं क्योंकि यह अव्यक्त रहता है।

पिकू का यह पक्ष ही विशिष्ट है जो फिल्म को गहराई देता है। हम बच्चे की समझ की असमर्थता में भागीदार होते हैं और यह हमें चुप करा देती है। फिल्म में पति-पत्नी और प्रेमी के त्रिकोण का बंजरपन हमें जरूर निराश करता है। यह त्रिकोण विकसित नहीं होता, न ही इसके पीछे कोई आंतरिक तर्क है। वीभत्स चीज की तरह यह वहां मौजूद भर है। इसे बालक के दृष्टिकोण से समझने की भी कोशिश नहीं है यहां। इतना ही नहीं, पिकू की मां के बारे में नैतिकतामूलक निर्णय भी है क्योंकि उसे यहां उस रूप में चित्रित किया गया जहां वह भावनाओं से शून्य विशाल कामुकता की मूर्ति भर दिखती है। पति-पत्नी के बीच कटुता जरूर है—इसे संकलित तो किया गया है लेकिन इसकी छानबीन की कोशिश

कतई नहीं की गयी है, न ही यहां *चारुलता* का वह मूक संकेत है जो हम उसके शुरुआती दृश्य-बंधों में देखते हैं जिसके अंत में चारु चश्मा लगाए भूपति को अपनी मौजूदगी से बेखबर अपने बगल से गुजरते देखती है। राय यहां माता के परकीय संबंधों का कोई कारण नहीं ढूंढ़ते जिससे उसके वजूद को पूरी तरह नकारा जा सके। केवल पिकू के मन में पैदा होने वाले प्रतिबिंबों में ही, जो केवल हमबिस्तर होने के ही होते हैं, इस प्रेम-प्रसंग की सार्थकता दिखती है। राय के लिए यह मनोवृत्ति अछूती है क्योंकि रेनेवां की तरह राय का भी मानना रहा है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास तर्क होता है। एक जिस नाटकीयता के साथ अपर्णा का चेहरा विक्टर बनर्जी के पृष्ठ भाग की ओर से प्रकट हुआ था, अगर उसी समय वह अपने विवाह-प्रमाण पत्र को एक झटके के साथ कैमरे के सामने चमका देती तो स्थिति क्या ज्यादा नैतिक हो जाती? क्या बच्चे को अलग रख मध्याह्न में पति-पत्नी का रति-क्रियारत होना कम भोंडा हो जाता? स्पष्टतया राय सेंट ऑगस्टीनवादी यौनातंक से ग्रस्त हैं।

इस दोष, अगर यह है तो, के बावजूद यह फिल्म अपने प्रभाव में कारगर साबित हुई है। मेरी समझ में ऐसा पिकू के चरित्र की अवधारणा में व्याप्त गहराई और उसके इर्द-गिर्द के लोगों तथा फूल, रंग-रोगन, कार तथा आवाजें—जैसी वस्तुओं के साथ उसके संबंधों की वजह से होता है।

सद्‌गति राय की सर्वाधिक आक्रोशपूर्ण फिल्म है जिसमें से हिमशीतल उच्छ्‌वास की गुनगुनाहट उभरती रहती है। राय की अन्य उत्कृष्ट कृतियों की तरह *सद्‌गति* के प्रत्येक पक्ष में "निरपेक्ष अपरिहार्यता" है मानो कुछ भी इतर कभी भी संभव नहीं था। इसमें विस्मय नहीं है। ब्राह्मण दंपति पूरी तरह ब्राह्मण है—गौरवर्ण, सुदर्शनीय किंतु थुलथुल, घमंडी और आलसी। इसके विपरीत चमार दंपति पूरी तरह अछूत है—श्यामवर्ण, हट्टा-कट्टा, अपरिष्कृत रूप में सुंदर, सेवाभाव युक्त तथा अपने आप के बारे में पूर्ण रूप से अनिश्चित। दोनों के बीच यह वैषम्य पूर्ण है जिसे और भी उजागर करने के लिए ब्राह्मण की अकर्मण्य सुविधाएं तथा चमार की थकाऊ गतिविधियों को एक साथ गुंथित रूप में दिखाया है। फिल्म का अभिनेता-चयन फिल्म की परिपूर्णता में बहुत हद तक उपयोगी साबित हुआ है—मोहन अगासे तथा पत्नी के रूप में गीता काक शास्त्रीय ब्राह्मण की प्रतिमूर्ति दिखते हैं तो ओमपुरी और स्मिता पाटिल के रूप में हमें समाज के परित्यक्तों की छवि भी दिखती है। झुग्गी में रहने वाली गरीब ग्रामीण औरत की भूमिका में स्मिता पाटिल से बेहतर अदाकारा के बारे में सोचना भी मुश्किल है। उच्च वर्ग की भव्यता के बीच वह बहुत हद तक बेमेल प्रतीत होती है, ठीक उसी तरह जिस तरह वह *अर्थ* में तथा अपनी पेशेवर जिंदगी जो अनुचित रूप से छोटी साबित हुई, के अंतिम दिनों में कतिपय व्यावसायिक फिल्मों में दिखी थी। ज्यादा से ज्यादा वह *अर्द्धसत्य* अथवा *सुबह* की मध्य या निम्न मध्यवर्गीय स्त्री के

रूप में चित्रित हुई है। जबकि वह वास्तव में *मंथन* के ग्वाले *चक्र* के झुग्गी निवासी या *मिर्च-मसाला* के मिर्च बीननेवालों की तरह है। उसके आकर्षण में विशिष्ट अनगढ़पन है—एक ऐसा आकर्षण जो उच्च वर्ग की कामुकता को भड़काने के लिए पर्याप्त है। अपने शरीर के परिपूर्ण उभारों पर वह सदैव एक अदृश्य खतरे का एहसास करती है।

सद्गति की संरचना पर आवें। इसकी संरचना में अपरिहार्यताओं का जाल है जिसमें निम्न कोण पर ब्राह्मणों के भिन्न भिन्न चित्र लिये गये हैं ताकि वे जो हैं उससे बड़े आकार में दिख सकें, जबकि चमारों के चित्र उच्च कोणों से लिये गये हैं ताकि ब्राह्मणों की तुलना में अगोचर रूप से छोटे लगें। इसी तरह अछूत परिवार की विपदा के साथ साथ वर्षा होने लगती है। यह तकनीक राय की जानी पुरानी है। *कारुणिक हेत्वाभास* की इस तकनीक में प्रकृति ही "मनुष्य की स्थिति" को उभारती है। अपरिहार्यताओं के प्रस्तुतीकरण (प्रदर्शन) में ही राय की विशेषता छुपी हुई है। संरचना को सही अनुपात में एक रूप देने की बात हो या फिर लय की सुनिश्चितता जो संरचना को सूचित करती रहती है, को अक्षुण्ण रखने की बात हो। यह गूंजती संगीतमयता पूरी संरचना में व्याप्त है। निष्कर्ष रूप में हमारे सामने शोषक और शोषित के उस शास्त्रीय संघर्ष की छवि आती है जो जाति व्यवस्था के पिछले तीन हजार वर्षों के इतिहास में फैला हुआ है। (शम्बुक वध का प्रसंग याद कीजिए जिसमें श्रीरामचन्द्र शम्बुक का वध केवल इस बात के लिए कर देते हैं कि वह शूद्र है और तपस्या में लीन है, वह तपस्या जो उसे शक्ति दे सकती थी) किंतु फिल्म शोषितों की पीड़ा की शाश्वत करुण-गाथा में ही खत्म नहीं होती। वह दृश्य जिसमें ब्राह्मण मुर्दे को इसलिए घसीटकर अलग कर देता है क्योंकि अछूत उसके रास्ते पर पड़े शव को हटाने से इनकार कर देता है, तकनीकी दृष्टि से अनोखा कहा जा सकता है। क्योंकि राय यहां पारंपरिक स्थापनाकारी प्रविधियों को दरकिनार कर देते हैं और बड़ी बेरुखी से फिल्म को भावनात्मक शक्ति के शीर्ष तक ले जाते हैं। दो तरह ये शाट बारी बारी से दमन की कालातीत प्रकृति और आज के संदर्भ में उसकी तात्कालिकता को सूचित करते हैं। पहले प्रकार का शाट छायाचित्र की भांति है और यह शाट आसमान की पृष्ठभूमि में निम्न कोण से लिया गया है जबकि दूसरा शाट जिसमें उच्च कोण से लिये गये घास-फूस और मिट्टी के चित्र हैं और धरती पर छोटे छोटे कुंड बने हुए हैं गोया अपने ऊपर पड़ने वाले बोझ से धरती कहीं कहीं चटक गई है। इससे पहले ही राय हमें परंपरा की उस सुप्त शक्ति जिससे अछूत का सामना हुआ था, की जानकारी एक सशक्त प्रतिमान के माध्यम से दे जाते हैं। लकड़ी का विशाल कुंदा, वृक्ष के तने का गांठदार स्थूल पिंड वहीं पड़े हुए उस चट्टान की तरह कठोर है जैसे भूखे, बंधुआ और अछूत चमार की मांसपेशियों की ताकत को चुनौती दे रहा हो। कुंदा कुल्हाड़ी को बार बार विक्षेपित कर उसकी अवज्ञा करता है। जाहिर है यह काम ब्राह्मण ने अछूत को सुपुर्द कर रखा है ताकि वह पूर्वार्द्ध तक चारपाई पर पड़े पड़े आराम कर

सके तथा बाद में धूप ढलने पर अछूत की बेटी की शादी का कोई शुभ मुहूर्त बता सके। उसने सोचा भी नहीं था कि यह आदमी यूं मर जायेगा, उसे इस आदमी की मांसपेशियों की ताकत पर अस्पष्ट आस्था थी और इस आस्था का औचित्य भी साबित हो गया होता बशर्ते वह बुखार की गिरफ्त से अभी अभी छूटकर नहीं आया होता और उस खास दिन को उसका पेट खाली न होता। अंतिम बात जानकर कि वह भूखा था, ब्राह्मण अस्पष्ट रूप से आहत हो जाता है, वास्तव में पति-पत्नी उसे खाने के लिए कुछ देने की सोच भी रहे थे किंतु भरी दुपहरिया में ऐसा करना दोनों के लिए कष्टकारी था, सो वे उसे खाना न दे सके। विचार की यह अन्यमनस्क उदारता किसी भी तरह ब्राह्मण की दुर्जनता को कम नहीं करती, अपितु उसे किंचित मानवीय बनाकर, ताकि वह विश्वसनीय लग सके, वे उसे और भी बढ़ा देते हैं।

प्रेमचंद की यह कहानी आजादी से बहुत पहले लिखी गयी थी। राय की फिल्म भी उसी यथार्थ को दर्शाती है जो तब से लेकर अब तक अपरिवर्तित रही है। सच ही, आज के इस दौर में जब पुनरुत्थानवादी हिंदू कट्टरता तथा हरिजनों के विरुद्ध दमन की वारदातें बढ़ रही हैं, फिल्म नये रूप में प्रासंगिक हो जाती है।

राय प्रेमचंद की कहानी में कोई भी परिवर्तन नहीं करते, शीर्षक से लेकर पंक्ति-दर-पंक्ति वे प्रेमचंद का अनुसरण करते हैं और कहना न होगा कि राय के लिए यह प्रविधि अस्वाभाविक है। तथापि राय इस फिल्म को प्रभावित कर देने वाली विश्वसनीयता से लैस कर देते हैं—एक ऐसी विश्वसनीयता जिसे कोई सिद्धहस्त व्यक्ति ही चलचित्रों के माध्यम से व्यक्त कर सकता है। आद्यरूप की यह अगोचर मौजूदगी विश्वसनीयता को और भी बढ़ा देती है। ऐसा लगता है मानो चमार, उसकी पत्नी और पुत्री के रंग-ढंग और उनकी चाल में हजारों वर्षों की गुलामी का भार दबा पड़ा है। इस विचार से कि सैकड़ों सालों से ये समाज में अछूत और परित्यक्त बने हुए हैं, भारत का आधुनिक तबका जो सबके समान अधिकारों वाले लोकतांत्रिक समाज की बात करता है अपने जेहन में कंपकंपी महसूस करता है। समानाधिकार की आकांक्षा स्वयं भी आज उन शक्तियों के आतंक से घिर गयी है जो शोषण के अपने अधिकार को छोड़ने की बात तो दूर, कम करने के लिए भी तैयार नहीं हैं।

शतरंज के खिलाड़ी की अनुवर्ती राय की फिल्में या तो उल्लासकारी हैं या बच्चों के लिए उपदेशात्मक कहानियां, (*जय बाबा फेलुनाथ, हीरक राजार देशे*) या फिर दूरदर्शन के लिए बनाई गयी लघु फिल्में (*पिकू, सद्गति*) जबकि लोग उनसे यह आस लगाये बैठे थे कि वे मानव मन की गहरी अनुभूतियों पर आधारित कोई महती कृति लेकर उपस्थित होंगे। अपनी बीमारी के बावजूद राय इस अनुभूति को *घरे बाहरे* (1984) में चित्रित कर पाने

में कामयाब हो जाते हैं। एक बार फिर वे रवीन्द्रनाथ जो सदैव से उनके स्रोत रहे हैं, की ओर लौटते हैं, इस बार उस उपन्यास के लिए जो 1905 के, वंग विभाजन से उद्भूत प्रवृत्तियों और घटनाओं के ताने-बाने से बुना गया है, बड़ी बेरहमी से उदीयमान राष्ट्रीयता की महत्ता का परीक्षण करते हैं और पाते हैं कि इसका आज सर्वथा अभाव है। वे भयभीत होते हुए देखते हैं कि अंग्रेज हिंदुओं और मुसलमानों को बांटने के अपने खेल में कामयाब होते जा रहे हैं और बड़ी होशियारी से वे स्वदेशी आंदोलन को आतंकवाद की आग में झोंकने में भी सफल हो जाते हैं। अंग्रेजों के पौ बारह हैं क्योंकि आतंकवाद से निपटने की कला वे खूब जानते हैं। समाज में व्यापक स्तर पर घटित होने वाली घटनाओं की अनुगूंज घर में चलने वाले कार्य व्यापार में सुनाई देती है। बड़ी बारीकी से उपन्यास राष्ट्रीय घटनाओं के चित्रण पर त्रिकोणात्मक प्रेम-संबंध को उकेरता है।

एम.एस. सथ्यु की *गर्म हवा* (1969) के अतिरिक्त कोई भी फिल्म हिंदू-मुस्लिम रिश्तों की छानबीन करने का साहस नहीं कर सकी। टैगोर का यह उपन्यास बंकिम चंद्र के *आनंद मठ* के आक्रामक हिंदुत्व के विपरीत बुद्धिवादी और धर्मनिरपेक्ष कलेवर लिए हुए है। (वंदे मातरम का नारा यहां अक्सर विडंबनापूर्ण तरीके से प्रयुक्त हुआ है) यह उपन्यास साध्य-साधन और सत्य के प्रश्नों पर विचार करता है, क्योंकि गंदे साधनों से शुचितर लक्ष्यों की प्राप्ति तो नहीं ही होती है, उल्टे वे लक्ष्य को ही भ्रष्ट कर देते हैं। जब संदीप (उपन्यास में) एक गरीब दुकानदार को विदेशी कपड़े बेचने के आरोप में सजा दिलाने के लिए झूठी गवाही को तैयार हो जाता है तो निखिलेश उसे स्मरण दिलाता है कि इससे सत्य के हित की रक्षा नहीं हो सकेगी। संदीप जवाब में उन लोगों का घिसा-पिटा (शास्त्रीय) तर्क सुना देता है जो साध्य के ऊपर साधन को तवज्जो देते हैं : सत्य वही नहीं है जो वास्तव में घटित हुआ है, अपितु वह है जो होना चाहिए। टैगोर (सत्यजीत का) का निखिलेश गांधीवादी है जो सत्य की प्राप्ति में साधन की शुचिता तथा विकास की प्रक्रिया में वैयक्तिक अंतरात्मा की आवाज में यकीन करता है। उन्नीसवीं शती के विज्ञानवाद की अवधारणा के विपरीत वह विकास के लिए किसी "व्यवस्था" की अनिवार्यता में यकीन नहीं करता। तब तक बंगाल और आठवें दशक के संपूर्ण भारत के लिए *घरे बाहरे* सांप्रदायिक उन्माद तथा अशुभ साधन जो आदर्श लक्ष्यों को भ्रष्ट करते हैं, के विरुद्ध गंभीर चेतावनी है। फिल्म सांप्रदायिक तनाव के कारणों की समीक्षा तो करती ही है, साथ ही इस तनाव में अंग्रेजों और समृद्ध हिंदू सामंतों, जो गरीब मुसलमान किसानों पर हुकूमत कर रहे थे, की भूमिका भी निर्धारित करती है और बताती है कि कैसे इनकी वजह से 1905 का बंगाल-विभाजन हुआ। खैर, बंगाल-विभाजन तो निरस्त कर दिया गया किंतु इसकी वजह से आजादी के साथ देश का जो विभाजन हुआ वह स्थायी हो गया। उपन्यास में टैगोर ने निखिलेश की घायलावस्था में वापसी दिखाई है, वह नहीं जानता कि गांधीवादी दृष्टिकोण के प्रचार-प्रसार के लिए

वह जीवित भी रहेगा या नहीं। राय ने गांधीवादी दृष्टिकोण पर जोर देने के लिए, आदर्शों की खातिर निखिलेश की मृत्यु दिखाई है। गांधी की तरह निखिलेश भी हिंदू मुस्लिम दंगे को रोकने के लिए अपनी जान न्यौछावर कर देता है।

बाहर की संकटपूर्ण दुनिया का सूक्ष्म रूपक घर है और उसमें रहने वाले पति पत्नी के आपसी रिश्ते हैं। जब निखिलेश अपनी पत्नी के जनानखाने से बाहर आकर अपने क्रांतिकारी मित्र से मिलने का आग्रह करता है तब भी उसकी मान्यता वही रहती है कि वह दुनिया के बारे में ऊंच-नीच समझकर ही (वह अंततः ऐसा ही करती है) आदर दे, न कि इस बात के लिए नहीं कि उसके (पत्नी) अज्ञान के कारण वह अधिक शक्तिशाली है। ठीक उसी तरह जिस तरह वह नहीं चाहता कि उसके गरीब मुसलमान व्यवसायी हिंदू जमींदारों के दबाव में विदेशी कपड़े बेचना बंद कर दें। हां, अगर यह उनका अपना निर्णय है तो कोई बात नहीं। विमला अपने पति के क्षमादायी आगोश में लौटती है, तो वह पौरुषपूर्ण लोभी पुरुष के आकर्षण से बाहर निकल आती है, जो गांव गांव घूमकर प्रचार कर रहा था कि वह इस देश का उग्रवादी उद्धारक है। अब वह निखिलेश के विनम्र और उभयलिंगी जैसे बाह्य व्यक्तित्व के पीछे छुपी उसकी आंतरिक शक्ति को स्वीकारती है। (गांधी के व्यक्तित्व में गोडसे ने इसकी पहचान "दुर्बल" के रूप में की थी जैसा कि आशीष नंदी अपनी पुस्तक "एट दि एज आफ साईकोलोजी" में व्याख्यायित करते हैं।) सत्य एक है और अविभाज्य है और इसे पाने की कोई सुगम राह न तो दक्षिणपंथ के पास है और न उत्तरपंथ के पास।

सत्यजीत राय की कृतियों में *घरे बाहरे* निश्चय ही एक विशिष्ट स्थान बनाएगी। वे अंततः यहां अपु के ढांचे से बाहर निकलने में कामयाब हो पाते हैं। निश्चय ही, निखिलेश अपु का कोई परिवर्तित रूप नहीं है। पहली दफा राय की इस फिल्म में खलनायक की मौजूदगी है और अपने आप में यह बहुत बड़ा परिवर्तन है। यहां तक कि *जनअरण्य* के तुच्छ जनसंपर्क अधिकारी (रोबी घोष) और चकले की मालकिन (पद्मा देवी) भी पूर्णतया नीच नहीं हैं, उनके जिंदादिल परिहास उनमें मानवीय ऊष्मा का संचार करते रहते हैं। *चारुलता* तक राय की फिल्मों के चरित्र पूर्व-फ्रायडवादी और पूर्व-औद्योगिक युग की तरह शिष्ट और अपने से बेगाने होते थे। *अरण्येर दिनरात्रि* के बाद के दिनों में बनी राय की फिल्में नयी पीढ़ी के बीच भोलेपन के लोप की घटना जिसकी अंतिम परिणति *जनअरण्य* के नायक के आत्मनिषेध में होती है, को उत्तरोत्तर शब्दबद्ध करती हैं। भोलेपन और अच्छाई की बातें अब बाल-फिल्मों में ही आती हैं जिनमें परीकथाओं के-से नायक और खलनायक हैं। किंतु *पिकू* का नन्हा नायक भी भोलेपन के गुणों से वंचित है। और *घरे बाहरे* का संदीप जब विनम्रता के मुखौटे को हटाकर अपना विषदंत दिखाता है तभी राय की फिल्मों में असल खलनायक का अवतरण होता है। वह दृश्य जिसमें स्वर्ण पर नजर पड़ते ही संदीप

की आंखें चमक उठती हैं, अपनी स्पष्टता और प्रभाव की दृष्टि से उल्लेखनीय है। शुरू से ही राय की फिल्मों में आदर्श पात्रों की भूमिका सौमित्र चटर्जी करते रहे हैं, किंतु अब उनकी भूमिकाओं में दुर्जनता की सूक्ष्म प्रतिध्वनियां सुनी जा सकती हैं। हैमलेट की–सी दुविधा के त्रासद प्रवाह के साथ बहता उपन्यास का नायक अब अकेलेपन के कोया (केंचुल) से निकलता हुआ कोई नौजवान नहीं होता, अपितु बीते युग की सामाजिक व्यवस्था का मजबूत हिस्सा होता है। फिर भी, नयी पीढ़ी के लिए सब कुछ समाप्त नहीं हुआ है, संदीप के युवा क्रांतिकारी शिष्य का बिमला की ही तरह, अपने करिश्माई गुरु से पीड़ादायी मानसिक मोहभंग होता है और वह उसके विरुद्ध खड़ा हो जाता है। मार्क्सवादी आचार-संहिता जो आदतन साधन की बजाय साध्य पर बल देती है, पर की गई टिप्पणी अचूक प्रतीत होती है और मार्क्सवादियों द्वारा शासित पश्चिम-बंगाल में फिल्म की सार्थकता भी यही है। इसी तरह यह फिल्म उस हिंदू कट्टरवाद का करारा जवाब भी है जो बंकिम चंद्र के *आनंद मठ* में उग्रता से वर्णित मुसलमान विरोधी उत्तेजनात्मक भाषणों तथा उसके शीर्षक गीत "वंदे मातरम" से वैधता प्राप्त करना चाहता है।

यह राय की सबसे ज्यादा विवरणात्मक फिल्म है। उपन्यास की विश्लेषणात्मक संरचना ही इसकी वजह है जिसमें कथ्य को पात्रों के विभिन्न दृष्टिकोणों से देखने की कोशिश की गई है। पहली दफा राय ने पूरी फिल्म को फ्लैशबैक में दिखाया है। शब्दों के अर्थ की पूरी गरिमा अक्षुण्ण रहे, इसके लिए राय कैमरे की गति का प्रयोग सावधानी और किफायती तरीके से करते हैं तथा निकटवर्ती शाट्स भी उन्होंने यहां सामान्य से अधिक रखे हैं। परिणामस्वरूप राय एक नग्न मगर हठधर्मितापूर्ण स्वाभाविकता को चित्रित कर पाने में सफल हो जाते हैं। इस फिल्म में निर्धारित दृश्य-बंध नहीं हैं जैसे *चारुलता* का झूला-दृश्य या *प्रतिद्वंद्वी* का नरकंकाल दृश्य। फिल्म में से हर वह चीज हटा दी गयी है जो हमारा ध्यान उन नैतिक मुद्दों से हटा सकती थी जिनसे यह फिल्म दो-चार होना चाहती है। तथापि कुछेक ऐसे दृश्य भी हैं जहां हम दक्षता की प्रशंसा किये बगैर नहीं रह सकते, भले ही हम विषयवस्तु में कितने ही गहरे क्यों न पैठे हों। ऐसा एक दृश्य आरंभ में ही है जहां हम देखते हैं कि पारंपरिक जमींदार की पत्नी बिमला जो अपने पति से अलग अकेली रहती है, पहली बार धीमे कदमों से चलती हुई जनाने से नीचे उतरकर एक ऐसे व्यक्ति से मिलने नीचे आती है जो उसके परिवार का सदस्य नहीं है। फिर वह दृश्य जिसमें बिमला *मिस गिल्बी* (जेनिफर कपूर ने अजीब जीवंतता के साथ यह भूमिका निभायी है और अफसोस कि हम ऐसी जीवंतता फिर नहीं देख पाएंगे), से लिए गये गीत की इन पंक्तियों–"मुझे वो कहानियां सुनाओ जो पहले, बहुत पहले मुझे बहुत प्यारी लगती थीं" को गाने की कोशिश करती है, भी स्पष्टतः आकर्षक है। और इस गीत के माध्यम से वह कालावधि भी हमारे सामने उपस्थित हो जाती है जिसकी पृष्ठभूमि में फिल्म बनायी

गयी है। फिर वह अंतिम दृश्य जिसमें वह ऊपरी मंजिल पर बैठी हुई खिड़की से देखती है कि उसके पति की लाश एक खामोश और लंबे जुलूस द्वारा ले जायी जा रही है, नियति का कारुणिक चित्र उपस्थित करता है। दीर्घ अवधि के व्यग्र और लंबे शाट्स में निखिलेश अपने उपद्रवी मुसलमान असामियों द्वारा फैलाई गयी गड़बड़ियों की तहकीकात करने के लिए धीरे धीरे घोड़े की पीठ पर अकेले बैठा दिखता है। उसके सिर पर शोला की टोपी है। पर्दे पर ये दृश्य चल ही रहे होते थे कि अचानक मौत की घोषणा कर दी जाती है। फिर एक छोटे से शाट में "अल्लाह हो अकबर" के नारे सुनाई देते हैं और उसके तुरंत बाद जुलूस दिखता है। संकेतों का यह द्रुत परिवर्तन प्रत्याशित त्रासदी को चित्रात्मक रूप में स्थापित करने में सक्षम होता है। संक्षिप्त और असंबद्ध लय पूरे कार्य व्यापार, बाहर की दुनिया और अविचलित ईमानदारी की भावी नियति के संकेत दे देती है। पति-पत्नी के मेल-मिलाप की शांतिदायी अनुभूति के बाद इस दृश्य की योजना हमारे सहज विश्वास की शांत दुनिया को छिन्न-भिन्न कर देती है और समकालीन भारत के केंद्र में लाकर खड़ा कर देती है।

स्मरणीय उद्धरणों के बावजूद *घरे बाहरे* सिनेमाई तकनीक की दृष्टि से *चारुलता* की तरह पूर्ण फिल्म नहीं बन पाती है जबकि दोनों फिल्मों में काल पात्रों के वर्ग-चरित्र तथा त्रिकोणात्मक संबंधों की दृष्टि से बहुत कुछ समानता है। स्वातिलता अपने चरित्र को आधा ही जी पाती है। उसके गोल चौकोर कंधे और तीखे नाक नक्श में पौराणिकता और टैगोर घराने की महिलाओं की छाप तो है, किंतु उसमें एक माधवी मुखर्जी जैसी मेधा प्रसूत रहस्यात्मकता नहीं है। उस फिल्मी परंपरा में जो चुंबन दृश्यों का सावधानी से निषेध करती है, *घरे बाहरे* के चुंबन दृश्य साहसपूर्ण मगर यांत्रिक हैं। स्वभावतः राय शारीरिक अंतरंगता के चित्रण से घबराते हैं और यही कारण है वे यहां भी यथाशीघ्र इसके चित्रण से निजात पा लेते हैं—*पिकू* की तरह ही यहां भी विषयासक्त आकर्षण की, जिसकी परिणति प्रेमी-युगल के प्रणय-संबंधों में होती है, कोई छानबीन नहीं की गई है। निखिलेश की भूमिका में विक्टर बनर्जी पात्र की आवश्यक संभ्रांतता को उकेरने में सफल साबित हुए हैं। यह अलग बात है कि यह संभ्रांतता कतिपय मुद्दों को विसंगति की हद तक धकेल देती है, जैसे निखिलेश का अपनी पत्नी को अपने कथित करिश्माई मित्र की बांहों में लगभग सौंप देना। सौमित्र चटर्जी में, यह करिश्मा नहीं है जिसके चरित्र में लालच और तुच्छता को जोर देकर दिखाया गया है ताकि वह एकपक्षीय लग सके, यह करिश्मा नहीं हो पाता।

तथापि फिल्म की परिकल्पना इतनी सशक्त और संरचना इतनी कसी हुई है कि वह हमारा ध्यान विचलित नहीं होने देती। इसके अतिरिक्त, यह फिल्म नितांत जरूरी मुद्दों को न केवल उठाती है, अपितु उनकी गहन छानबीन भी करती है—ऐसी छानबीन जिसमें वैयक्तिक और सार्वत्रिक एकमेव हो जाते हैं। यही कारण है कि फिल्म अपनी उन औपचारिक

दुर्बलताओं को छुपा लेती है जिन पर कभी कभी अनावश्यक रूप से जोर दिया गया है। नायक निखिलेश की तरह स्वयं फिल्म में भी एक खास संभ्रांतता, हमारे समय के कुछ सर्वाधिक महत्वपूर्ण प्रश्नों पर गंभीर चिंतन, मौजूद है।

इस पृष्टभूमि को समझे बगैर, *गणशत्रु* का अपनी बीमारी की कैद से निकलकर फिर से फिल्म निर्माण में जुटने के राय के प्रयोगात्मक प्रयास के अलावा कुछ और मानना असंभव है। अपनी समस्त रचनात्मक क्षमता पर उनका पूर्ण नियंत्रण नहीं है। उनकी पूर्ववर्ती फिल्मों में प्रयुक्त कौशल के ऊपर हम जैसा जबरदस्त नियंत्रण देखते आए हैं, वह यहां दूर दूर तक दिखाई नहीं देता। हकीकत तो यह है कि अपनी बीमारी की वजह से वे मृत्युपूर्व बनाई गयी अपनी तीन फिल्मों में इस विसंगति से कभी उबर नहीं पाये। बावजूद इसके कि अंतिम दो फिल्मों के निर्माण में उन्होंने चमत्कारिक प्रगति दिखाई। इनके निर्माण में उन्होंने कुछ भी बाकी नहीं छोड़ा है, और कहना न होगा कि यह सब निश्चय ही उनकी अदम्य इच्छाशक्ति की बदौलत संभव हो सका होगा।

गणशत्रु में पहली बार उन्होंने किसी विदेशी कृति "एनमी आफ द पीपुल" (*जनशत्रु*) का रूपांतरण किया—वह काम जो भारत अग्रगामी रंगमंच प्रायः करता रहता है। लेकिन आधुनिक रंगमंच की तुलना में *गणशत्रु* के पात्र कहीं अधिक बैठते और बात करते हैं। पटकथा की संरचना भी अति सामान्यीकृत है और मेयर की भूमिका में धृतिमन चटर्जी को छोड़कर किसी भी पात्र के पास ज्यादा कुछ करने के लिए नहीं है। न ही दृश्य-अभिनय संयोजन में ऐसी बारीकी है जिससे सरलीकृत रंगमंचीय संरचना की कमियों को कम से कम कर सके। शायद ही यहां कोई ऐसा दृश्य है जिसे स्मरणीय कहा जा सके। अंत में अभिव्यक्त आशावाद भी समवेत संरचना की सामान्यता से अपने आपको निकालने में असफल साबित होता है। नतीजन फिल्म किसी सार्थक स्तर को नहीं प्राप्त कर पाती है। यद्यपि इस गिरावट के स्रोत की पहचान *घरे बाहरे* की छोटी छोटी उलझनों में की जा सकती है, तथापि राय की अंतिम तीन फिल्मों, खासकर *गणशत्रु*, से इसकी भिन्नता विशाल है।

8

अंतिम चरण

घरे बाहरे के निर्माण के साथ राय की जो बीमारी शुरू हुई उससे वे पूर्ण रूप से कभी भी निजात नहीं पा सके और उनका स्वास्थ्य लगातार गिरता रहा। अपने पिता पर बनाए गये आधा घंटा की लघु फिल्म को छोड़ दें तो वे पूरे पांच साल तक फिल्म निर्माण से अलग रहे। *गणशत्रु* और उसके बाद की फिल्मों का निर्देशक डाक्टरों और नर्सों से घिरा रहता था, दरवाजे पर एम्बुलेंस गहन चिकित्सा कक्ष के बतौर खड़ी रहती थी। "अब मेरा डाक्टर—मुझे फिल्म निर्माण की विधि बता रहा है और मुझे आदेश है कि मैं स्टुडियो के अंदर ही कार्य करूं।" किंतु साथ में उनका यह भी कहना था कि कैमरे के पीछे आकर काम करना उन्हें प्रफुल्लित कर देता था और दवाइयों से जितनी राहत मिली उससे कहीं अधिक राहत उन्हें कैमरे से मिली।

गणशत्रु (1989) अंधविश्वास पर *देवी* से भी कहीं ज्यादा करारी चोट करती है। इसके दुष्परिणामों का भोक्ता यहां कोई एक व्यक्ति नहीं है, न ही समाज का कोई एक खास तबका है। पश्चिम बंगाल के एक छोटे किंतु लोकप्रिय पर्यटक शहर के अस्पताल में अचानक पीलिया और अन्य बीमारियों से प्रभावित ढेर सारे मरीज पहुंचते हैं। ये बीमारियां जल-प्रदूषण से फैली हैं। बीमारी की पहचान करने वाला डाक्टर इसके कारणों की खोजबीन करता है और अंततः इसके स्रोत की पहचान कर लेता है—रिसते सीवर की वजह से पेय जल प्रदूषित हो गया है किंतु तीर्थयात्री उसे चरणामृत, देवी चरण के स्पर्श से अमृत में बदला हुआ पानी समझते है और जब डाक्टर लोगों को इससे सावधान करता है तो शहर का मेयर और अन्य दूसरे उस पर हमला कर देते हैं, क्योंकि उनकी नजर में डाक्टर हिंदू विरोधी विचार रखता है। किंतु सच्चाई यह है कि हमलावरों का मंदिर और वहां आने वाले तीर्थयात्रियों से होने वाली आय में निजी स्वार्थ छुपा हुआ है। स्थानीय समाचार-पत्र को धमकी दी जाती है कि वह डाक्टर के निष्कर्षों को प्रकाशित न करे। हिंदू मठाधीश की भांति निजी स्वार्थी लोगों का कहना है कि चरणामृत प्रदूषित किया ही नहीं जा सकता। डाक्टर एक सभा बुलाकर अपने दृष्टिकोण का खुलासा करना चाहता है किंतु उत्तेजना और उपद्रव भड़काने में पटु लोग श्रोताओं को उसके विरुद्ध भड़का देते हैं और डाक्टर

को 'गणशत्रु' की उपाधि मिल जाती है।

राय की यह फिल्म ऐसे समय में आती है जब धार्मिक कठमुल्लावाद तीव्र गति से शक्ति अर्जित कर रहा होता है। कहना न होगा कि फिल्म उस विवेकशीलता की आवश्यकता पर फिर से जोर देती है जिसे उन्नीसवीं सदी के सुधार आंदोलन ने विकसित किया था और जिसे "विज्ञानवाद" कहकर बहुत से आधुनिक विद्वानों ने उसकी इस बिना पर निंदा भी की कि यह वाद जीवन के अंतर्ज्ञानात्मक पक्ष के नकार पर आधारित था। तथापि बाद के दिनों में हिंदू कट्टरपंथी विस्फोट जैसी राष्ट्र की एकता और अखंडता के लिए खतरा उपस्थित करने वाली घटनाएं हमारे सामने आईं। हिंदू धर्मांदियों द्वारा बाबरी मस्जिद का ध्वंस किया जाना उस आंदोलन की चरम परिणति थी जो तथ्य के ऊपर आस्था को तवज्जो देता है। पुरातत्ववेत्ताओं का भले ही कुछ और कहना हो, वे अपने कृत्यों से यह साबित करने पर आमादा हैं कि भगवान श्रीराम का जन्म ठीक वहीं हुआ था जिस जगह पर मस्जिद खड़ी थी।

शाखा-प्रशाखा (1990) अपने दूरदर्शन प्रसारण पर भी कहीं से कमजोर नहीं दिखी और जैसा कि हम जानते हैं, राय की कृतियों के संदर्भ में यह एक अजूबी बात थी। स्पष्ट ही, *गणशत्रु* की तुलना में यह फिल्म बहुत ज्यादा विकसित है, रंगमंचीय दृष्टि से सशक्त है, इसकी रचना में कसाव है और इसमें ऐसे सिनेमाई क्षण हैं जिनकी उपेक्षा हम केवल महान फिल्म निर्माताओं से ही कर सकते हैं। संवादों पर अपनी निर्भरता और बहुलांश समय तक घर की चहारदीवारी तक सीमित रहने के बावजूद इस फिल्म में सिनेमाई चिंतन उच्च स्तर का ही रहता है।

फिल्म के शीर्षक (टाइटल्स) रूप विधान का आर राय की वापसी का संकेत भी है। कैमरा ई.सी.जी. प्रिंट की लंबी पट्टी के पार्श्व में घूमता है, लबडब-लबडब की ध्वनि के साथ दिल की धड़कनों की आवाज सुनाई देने लगती है। संगीत प्रच्छन्न रूप में सुर पड़ता है जो दिल की धड़कनों की तर्ज पर है। किंतु धीरे धीरे संगीत का स्वर अनवरत होकर शेष ध्वनियों पर छा जाता है। और यह सब राय की *देवी* या *चारुलता* या *प्रतिद्वंद्वी* फिल्म के श्रेष्ठ आरंभ जैसा ही संकेत देते हैं। लेकिन इसके बाद जो कुछ घटता है वह किंचित भिन्न है। *जलसाघर* का दीर्घ और मौन आरंभ लगभग बिना शब्द व्यक्ति और उसके समय के बारे में, मूल जानकारी प्रदान कर देता है, जैसे इस जानकारी को चित्रित कर दिया गया हो। यहां कुर्सियों पर बैठे पिता-पुत्र नाटक के आधार को लेकर चर्चा कर रहे हैं। दोनों, जिसमें एक वृद्ध है तथा दूसरे का दिमाग दुर्घटना में क्षतिग्रस्त हो गया है, के रिश्तों की सुकुमारता एकबारगी स्पष्ट भी है, लेकिन जिस तरह से यह चित्रित हुआ है, वह फिल्म कम और नाटक ज्यादा लगता है। इसके तुरंत बाद ही साक्षात्कार के लिए

आये रिपोर्टर की पारदर्शी स्थिति को और भी विकृत कर देती है। फिल्म का यह उथलापन किसी भी तरह पूर्ववर्ती राय के अनुरूप नहीं था।

जैसा कि राय हमेशा करते हैं, इस फिल्म की नींव भी मजबूती से डाली गई है ताकि रिश्तों के खुलते आभास को बिना किसी व्यवधान के समझा जा सके। जब पिता को दिल का दौरा पड़ता है, तो उसके तीनों बेटे जिसमें दो की पत्नियां भी साथ हैं, बिहार के एक छोटे शहर में अवस्थित विशाल घर में पदार्पण करते हैं। कहानी की पृष्ठभूमि तैयार है। पर्दे पर पहला अविस्मरणीय क्षण वह होता है जब जीर्ण-शीर्ण वृद्ध दादा जी चमकीले गाढ़े लाल रंग का स्वेटर पहने उपस्थित होते हैं। घर के एक कोने में उन्हें एक नौकर की कठोर देख-रेख में इस तरह छोड़ दिया गया है कि उनकी अचानक उपस्थिति वहां जुटे परिवार के सदस्यों को हड़बड़ा देती है। इन लोगों को उस समय तत्काल राहत मिलती है जब नौकर आता है और वृद्ध को पकड़ कर उन्हें उनके नियत स्थान पर पहुंचा देता है, यह फिल्म के सर्वाधिक हास्यजनक और करुणाजनक क्षणों में से एक है। वृद्ध के जीर्ण-शीर्ण शरीर पर लाल स्वेटर की असंगति वास्तव में वृद्ध की अदम्य जिजीविषा को व्यक्त करती है साथ ही परिवार से अपने जुड़े होने तथा परिवार जनों की उपस्थिति की ऊष्मा का एहसास करने की उनकी चाहत को भी व्यंजित करती है।

उस सप्ताह में जिसे पिता की मृत्यु होने या उनके स्वस्थ हो जाने की प्रतीक्षा में सभी भाई साथ साथ बिताते हैं, उनके तनाव जो अब तक सुप्त पड़े थे, उभर कर सामने आ जाते हैं। इसकी पहली झलक तो हमें उस विशाल और काली भोजन की मेज पर ही मिल जाती है जहां खाने के लिए सबका मिलना अनिवार्य-सा है। इसकी दूसरी झलक हमें उस दृश्य में मिलती है जहां पिता के स्वास्थ्य लाभ के उपलक्ष्य में सभी भाई ग्रामीण इलाके में पिकनिक मना रहे होते हैं, यहां वे एक शब्द उच्चारण का खेल भी खेलते हैं जो *अरण्येर दिनरात्रि* के बौद्धिक खेल की याद दिलाता है। अपनी शास्त्रीय शैली के अनुरूप ही राय ने फिल्म की संरचना का ईंट-दर-ईंट निर्माण किया है। तमाम घटनाएं एक एक कर ऐसे खुलती हैं मानो वे किसी नियति की डोर से बंधी हों। भाइयों और उनकी पत्नियों के बीच के रिश्ते को बड़ी बारीकी से विकसित किया गया है—चाहे विशाल डाइनिंग टेबल पर होने वाली बातचीत हो या फिर सबसे छोटे भाई की अपनी भाभी जिसकी दुविधाजन्य मनोवृत्ति को बड़े नाजुक अंदाज में दिखाया गया है, के साथ गुफ्तगू हो।

दोस्तोयवस्की की सच्ची परंपरा के अनुरूप यहां भाईयों में मूर्ख ही नैतिक व्यक्ति है, वह वृद्ध पिता के, जो शुद्ध नैतिक साधनों में समृद्धि और यश अर्जित कर सके थे, नैतिकबोध का प्रतिनिधित्व करता है। इस नैतिकबोध को अन्य दो सफल पुत्र यह कहकर अस्वीकृत कर चुके हैं कि यह बदले समय की सच्चाइयों के संदर्भ में असंगत हो चुका है। वे काले धन का व्यापार करते हैं, जुआ खेलते हैं और तरह तरह के अन्य ऐसे कार्यों में लिप्त हैं

जिन्हें पिता के जमाने में पाप समझा जाता था। महिलाएं मूर्ख भाई का साथ देती हैं और जैसी कि आशा थी ये महिलाएं ईमानदार, संवेदनशील और दयालु और पारिवारिक मर्यादाओं से परिपूर्ण हैं। सबसे छोटा भाई अपने कथित समझदार भाइयों के मूल्यों को नकार देता है और अपने आप के प्रति ईमानदार रहने के लिए संघर्ष करता है। राय इस असामान्य पुत्र का चित्रण एक पागल के रूप में करते हैं जो अपने भाईयों के कृत्यों पर सांकेतिक निर्णय देने के अतिरिक्त कुछ और नहीं कर पाता और जो अपनी दुनिया में कैद रहता है। पलायन करने के उसके सपने (साजिश) को सर्वोत्तम पाश्चात्य संगीत के माध्यम से वाणी दी गई है। पहले हम बॉक को सुनते हैं और बाद में जब उसके भाइयों की स्वार्थ लोलुपता उजागर हो जाती है हम एक ग्रेगोरियन स्तुति का "केरी इलीशन" (हे देव ! मुझ पर दया करो) अंश सुनते हैं जिसकी गूंज रात में भर जाती है। रात को सूइयों वाली भव्य पुश्तैनी घड़ी की टिक टिक, पागल भाई के कमरे से आने वाला संगीत संभवतः इस फिल्म के सबसे प्रभावी तत्व हैं। इसके अतिरिक्त इन उद्धरणों का जीवंत प्रयोग राय की अपनी ही पृष्ठभूमि की तुलना में और कुछ नहीं तो समृद्धतर तो है ही। कहना न होगा कि राय की नाटकीय बुनावट और संगीतात्मक प्रासंगिकता त्रुटिहीन रहती है।

और इन सबमें से आसानी से हम राय के अपने जीवन के तत्वों को समाहित देखते हैं—दिल का दौरा और उपचार विधि का विश्वसनीय ब्यौरा, जमाने के *सिनिकवाद* से विलगाव तथा संगीत में सुकून—ये सब कुछ राय के अपने अनुभवों के ही संकेत हैं। अजीत बनर्जी जो पिता की भूमिका में हैं कभी कभी असाधारण रूप के लगने लगते हैं। यहां तक कि देहयष्टि और रूपरंग में भी। मानसिकता का साम्य तो है ही। यह जानकर कि उसके बेटे काले धन का कारोबार करते हैं, और यह कि उनका नन्हा पोता भी इस धंधे के काले शब्दों से वाकिफ है, उसे गहरा आघात पहुंचता है। किंचित पुरानी पीढ़ी के अत्यधिक नैतिकता—प्रतिबद्ध लोगों को छोड़कर शेष सब लोगों की नजर में यहां भोलेपन का वह स्पर्श मौजूद है जो राय की नैतिकता को उनके लिए बीते युग की वस्तु बना देने की ओर प्रवृत्त कर देता है। वस्तुतः यह एक दुखद स्थिति है कि कुछ भारतीय फिल्म निर्माताओं में राय के अतीत की वस्तु बना देने की चिंता, वैसी ही सनक के साथ मौजूद है जैसी कि *शाखा-प्रशाखा* के दो सफल पुत्रों में है ["अंततः अब यह उनके (राय के) जाने का समय है"—एक निर्माता का कहना है] फिल्म में बहुत कुछ ऐसा है जो इस तरह की भावनाओं को झूठ ठहराता है। आज भी हमारे पास बहुत कम ऐसे निर्माता हैं जो *गणशत्रु* के अधोबिंदु से उबरने के बाद भी राय की नयी फिल्मों के जैसे महान क्षणों का निर्माण कर सकें, भले ही वे नयी फिल्में अंतर्निहित वक्तव्यों की उनकी पुरानी शैली की तुलना में अधिक उपदेशात्मक क्यों न हों। यह अलग बात है कि *गणशत्रु* की अनुवर्ती फिल्में "अंतर्कथन की शैली" पर आधारित राय की पूर्ववर्ती फिल्मों की तुलना में उपदेशात्मक ज्यादा हैं।

फिल्म में भौतिक तकनीक की गुणवत्ता में ह्रास अकेली ऐसी बात है जो खलती है—प्रकाश व्यवस्था, मंच निर्माण और ब्यौरे का निरीक्षण करने में राय पहले की तरह अपनी प्रखर ऊर्जा और अपने उत्साहपूर्ण नियंत्रण का परिचय नहीं दे पाये हैं। अगर सुब्रत मित्र और बंशीचन्द्र उनके साथ होते तो, कोई भी यह सोचे बगैर नहीं रह सकता कि उनके जीवन के इस दौर की फिल्मों का रूप विधान बहुत ही सशक्त हुआ होता। रंगरोगन की हुई अक्षत दीवारें, रूढ़शैली की सीढ़ियां और यदाकदा कमजोर प्रकाश के धुंधले शाट्स—इन सबके कारण फिल्म के नैतिक वक्तव्यों को गहरी क्षति पहुंचती है। इसके विपरीत फ्रांसीसी तकनीशयन की ध्वन्यांकन (साउंड-रिकार्डिंग) की उत्कृष्टता स्वतः स्पष्ट है। स्थिति तब और भी गंभीर लगती है जब हम देखते हैं कि आज भारत में उत्कृष्ट प्रकाश-कैमरामैनों तथा दक्ष कला-निर्देशकों या रूप-सज्जा करने वालों की कोई कमी नहीं है। क्षतिग्रस्त मस्तिष्क वाले पुत्र की भूमिका जिसे सौमित्र चटर्जी ने निभाया है, नाटकीय दृष्टि से एक उत्कृष्ट परिकल्पना है किंतु एक क्षत-मस्तिष्क पात्र के साथ खंडित मानसिकता की संगति पर्याप्त शोध के साथ प्रस्तुत प्रतीत नहीं होती। रही सही कसर रूप सज्जाकार ने नकली रंगमंचीय दाढ़ी लगाकर पूरी कर दी है। दूसरे शब्दों में, फिल्म नाटकीय दृष्टि से सशक्त किंतु सिनेमा की दृष्टि से कमजोर है, तथापि आउटडोर दृश्यों का बहुत बढ़िया संयोजन हुआ है। और यही हमें आंतरिक दृश्यों की, चाहे वे कितने ही बड़े क्यों न हों, संकीर्ण स्थान-भीति से निजात दिलाते हैं। फिर भी, *शाखा-प्रशाखा* में निश्चित रूप से राय, अपनी लंबी बीमारी के बाद अपने रूप-विधान को पुनः प्राप्त करते हैं।

उनके रचनात्मक चिंतन के विकास क्रम में देखें तो *शाखा-प्रशाखा* उनके पुराने सरोकार, वैयक्तिक नैतिकता के आग्रह, को जारी रखती है। *घरे बाहरे* के बाद से उनका यह सरोकार ज्यादा से ज्यादा वाचिक, बाह्य अभिव्यक्ति होता गया है। यहां हमें पॉलिन केल के उस शास्त्रीय वक्तव्य की जबरन याद आती है जो उन्होंने *अशनि संकेत* के संदर्भ में दिया था कि राय की कृतियों में जो अव्यक्त है, वह प्रभाव की दृष्टि से गंभीर है और जो सशक्त रूप से व्यक्त है वह उन्हें सामान्य श्रेणी में खड़ा कर देता है। इसके बावजूद *शाखा-प्रशाखा* जैसी फिल्म में एक दृढ़ नैतिक तेवर है जो भ्रष्टता को वैध और विवेकानुकूल सिद्ध करने वाले विचारों से अपने आपको अलग रखता है। और इससे गहरे जुड़ी हुई है कथन की प्रत्यक्षता, जो टैगोर की अंतिम कविताओं की स्पष्टबयानी से पूर्णतया भिन्न नहीं है। एक ऐसी ही कविता में टैगोर ने सांपों की फुंफकार से वातावरण के विषाक्त होने की बात कही है। ऐसे विषाक्त वातावरण में शांति के शब्द खोखले ही साबित होंगे और इसीलिए भावी पीढ़ी से उनकी अपील थी कि वह बुराईयों के विरुद्ध जेहाद छेड़ें।

आगंतुक (1991) की जीवंतता *सोनार केल्ला* या *जय बाबा फेलुनाथ* जैसी बाल फिल्मों

की याद ताजा कर जाती है। वास्तव में इसमें ऐसा सुंदर हास्य है कि उसके बगैर वे बड़े मुद्दे जिन्हें यह अधिकाधिक रूप से उठाती है, महज खोखले नारे साबित हुए होते। उत्पल दत्त जो स्पष्टतः कृतिकार के विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं, विशिष्ट शैली में अपनी भौंहें मटकाकर और अपनी चाल से अद्भुत हास्य की सृष्टि करते हैं। उनके लंबे समय बाद मिले रिश्तेदार उनका विश्वास जीतने के प्रयास में जो सावधानियां बरतते हैं उनकी निरर्थकता को लगातार उजागर करने वाली उनकी वाग्मिता भी हास्य पैदा करती है। कई मौसमों की मार झेल लेने वाले गहरे अनुभव को दर्शाने वाली छाप उनके चेहरे पर मौजूद है जिसे वे अपने रिश्तेदारों, उनके सहित जो उन पर लगातार संदेह करते हैं, का भोलापन मानते हैं उसमें स्नेहिल आनंद लेते हैं। घर लौटे अति उदार मुक्त हस्त खर्च करने वाले चाचा ही इस फिल्म के केंद्रीय पात्र हैं और फिल्म की समूची विषयवस्तु उनके व्यक्तित्व के रंग में रंगी है। फिल्म में सूचनात्मक तत्व भी हैं और परोक्ष नैतिक उपदेश भी। ऐसे नैतिक उपदेश राय की बाल फिल्मों तथा बालकों के लिए लिखी गई उनकी पुस्तकों के विशेष गुण रहे हैं। मृदु हास्य की यह शाश्वत उपस्थिति ही है जो उपदेशात्मक पक्ष को हावी नहीं होने देती। नतीजन फिल्म वयस्कों के लिए जितनी आकर्षक है उतनी ही आकर्षक अवयस्कों के लिए भी है। किशोरों के लिए बनाई गयी अन्य फिल्मों से *आगंतुक* इस अर्थ में भिन्न है कि वह घोषित रूप से किशोरों की फिल्म नहीं है और वास्तव में इसके (उत्पल दत्त के) अधिकांश दर्शक वयस्क हैं। यह अलग बात है कि वे उत्पल दत्त से कम अनुभवी हैं। वयस्कों को बहुत हद तक किशोर रूप में देखने का आग्रह *आगंतुक* को एक ऐसे स्थान पर ला खड़ा करता है कि अन्य फिल्मों से इसकी भिन्नता स्पष्ट नहीं हो पाती। इसकी कुछ कुछ व्यंजनात्मक शैली के कारण वयस्क दर्शक इसके मूल स्वर को नहीं पकड़ पाते और वे फिल्म के संदर्भ में स्वयं को सही परिप्रेक्ष्य में नहीं रख पाते। वे इसको एक ऐसे गंभीर सामाजिक दर्शन के रूप में ले लेते हैं जिसे यूं ही आकस्मिक तौर पर छितरा दिया गया हो। तथापि "कुलीन वहशी" दर्शन के उपदेशात्मक पक्ष को पूरी तरह खारिज नहीं किया जा सकता। उत्पल दत्त के शब्द भले की व्यंजनात्मक शैली में हों उनमें गंभीर विषयवस्तु निहित रहती है जिसकी आलोचना की जा सकती है, विशेष रूप से उस समय जब हम फिल्म के खूबसूरत मनोरंजक पक्ष को समझ नहीं पाते। उदाहरण के लिए आदिवासियों का महिमामंडल, जो हजारों सालों से शोषण और तद्जन्य भ्रष्टाचार के शिकार रहे हैं, सवालों के घेरे में लाया ही जाना चाहिए। इसके अलावा क्या हम पूर्ण आदिम अवस्था के समय से विकसित सभ्यता के व्यापक ढांचे को नकार सकते हैं, या हमें ऐसे तरीकों पर पुनर्विचार करना चाहिए जिनके माध्यम से आदिवासियों के कुछ गुणों को शिक्षा और सभ्यता की शैलियों में पिरोया जा सके? भारत में समूचे ऐतिहासिक और प्रागैतिहासिक दौर में आदिवासी हिंदूकरण (सांस्कृतिकरण, जैसा कि कुछ पंडित लोग कहते हैं) के दबावों

के शिकार और उसके शोषित रहे हैं। हमारे महाकाव्यों में आदिवासियों के प्रति जातीय दृष्टिकोण और व्यवहार के प्रचुर साक्ष्य मौजूद हैं। सभ्य लोगों की निरंतर विकसित प्रोद्योगिकी के साथ चलने की उनकी अक्षमता निश्चित तौर पर, भले ही वह कितनी दुखद क्यों न हो, द्रविण विश्व की गंभीर कमजोरी की ओर संकेत करती है। आदिवासियों की संपत्ति और संस्कृति के निरंतर क्षय के बावजूद उन्हें गौरवांवित करने और उन्हें दुनिया के आगे माडल के रूप में प्रस्तुत करने के अपने खतरे हैं। इससे हमारी एक प्रकार की संरक्षणकारी आत्ममुग्धता का संकेत मिलता है।

आज के मानव शास्त्रियों को भी जो "आत्म और अनात्म" तथा "अवलोकन की राजनीति" जिसमें अवलोकन अवलोकित को प्रभावित करता है, की समस्या से ज्यादा से ज्यादा परेशान होते रहे हैं, राय का वह सामाजिक चिंतक जो आरामकुर्सी पर बैठा बीरभूम के नृत्य करते संथालियों को देखता रहता है और न ही वे उसकी भतीजी के उस कृत्य को स्वीकार कर पाते हैं जो आदिवासी जीवन में भागीदारी निभाने के नाम पर नृत्य में शामिल हो जाती है। इस तरह नृत्य में शामिल होना—संबद्धता प्रकट करने का राजनीति का अतिदोहित लटका है। श्रीमती इंदिरा गांधी को कई कई दफे ऐसा करते दूरदर्शन पर देख चुके हैं। संभव है कि हमारे इस आग्रह में कुछ दम हो कि हम अब तक जिसे सभ्यता कहते आये हैं, उस पर नये सिरे से विचार करें तथा एक सरलतर जीवन-शैली के विकल्प की ओर देखें। किंतु यह एक ऐसा व्यापक नुस्खा है जिसे हम सहज ही आत्मसात नहीं कर सकते।

इस प्रकार देखें तो फिल्म के बारे में महत्वपूर्ण बात यही लगती है कि हम इसका लुत्फ उठा सकते हैं, बशर्ते हम इसके संदेशों को गंभीरता से न लें। किंतु यह ऐसी चीज है जिसे स्वीकार करने में भारतीय दर्शकों की संदेशनुबुक्षु पवित्रता असमर्थ है। परिष्कृत संस्कार वाले लोग इसकी आलोचना यह कहकर करते हैं कि न तो इसमें रूपगत सौंदर्य है न ही इसके दर्शन में कोई गांभीर्य है। सामान्य श्रोता दोराहे पर खड़ा है जिसे मालूम नहीं कि वह अपनी प्रतिक्रिया बच्चों की मानिंद करे या वयस्कों की मानिंद। इसका परिणाम यह हुआ कि यद्यपि यह फिल्म राय की मृत्यु के तुरंत बाद ही रिलीज हुई और जिसे महान कलाकार की अंतिम कृति के रूप में खूब प्रचारित भी किया गया, श्रोताओं को सिनेमाघरों तक नहीं खींच सकी, खासकर कलकत्ता में भी नहीं जो राय का अपना शहर है। हां, फ्रांस में यह फिल्म खूब चली और सफलतम फिल्मों की हद तक पहुंची : अब इससे फ्रांस के लोग हमारी तुलना में अधिक संवेदनशील साबित होते हैं या अधिक नासमझ, तय करना कठिन काम है।

राय की अधिकांश फिल्में दूसरों की साहित्यिक कृतियों का रूपांतरण हैं : केवल कुछ ही—जिनमें *कंचनजंघा, नायक, पिकू,* शामिल हैं, उनके द्वारा लिखी गयी थीं (*पिकू* उन्हीं

की एक कहानी पर आधारित है बाकी दो को उन्होंने मूल पटकथाओं के रूप में लिखा था) *गोपी गायने बाघा बायने* के अपवाद को छोड़ दें तो सभी बाल फिल्में उन्हीं के द्वारा लिखी गयी थीं। बाल फिल्मों की विशेषताओं का हम संक्षेप में उल्लेख कर चुके हैं, शेष में, *कंचनजंघा* सर्वाधिक सफल है, *नायक* अपेक्षाकृत योजनाबद्ध थी और जन मनोविज्ञान वाले स्वप्न दृश्यों की सामान्यता के कारण साधारण होकर रह गई थी। लेकिन दो विशेषताएं इन फिल्मों को अलग अलग करती हैं। एक विशेषता उनकी सभी पटकथाओं में मौजूद है और दूसरी पूरी तरह बाल फिल्मों तक सीमित है। पहली विशेषता कहानी, संरचना, पटकथा और विकास में निर्दोष सिने शिल्प का इस्तेमाल है : दूसरी विशेषता वह ऊष्मा है जो अंतर्निहित नैतिक शिक्षा के आग्रह के बावजूद पैदा होती है। वयस्क दर्शकों के लिए बनी उनकी फिल्मों में से केवल *कंचनजंघा* में मनोरंजन और बौद्धिकता का दुर्लभ संयोग दिखाई देता है। इसमें घटनाओं और पात्रों का एक दूरी बनाकर किया गया खुशनुमा अवलोकन भी है। यह गुण अन्य फिल्मों की तुलना में *आगंतुक* में सर्वाधिक है। उनकी अन्य फिल्मों में व्यंग्य महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है, हालांकि यह व्यंग्य सूक्ष्म रूप में मुख्य वक्तव्य की पृष्ठभूमि में ही रहता है। तथापि *आगंतुक, कंचनजंघा* के सांचे में सटीक नहीं बैठती : यह अपनी ही अद्वितीय शैली है।

राय की अंतिम तीन फिल्में (*गणशत्रु* को छोड़कर) समूची सभ्यता को प्रभावित करने वाले व्याप्त मुद्दों के बारे में एक नयी सादगी और साफ बयानी का संकेत करती हैं। *शाखा-प्रशाखा* में, यह गुण *जनअरण्य* के सांचे के भीतर ही बना रहा लेकिन उनकी अंतिम फिल्म में यह गुण ऊष्मा और अनाशक्ति के परिपक्व संयोग तक पहुंचा है, यह नश्वरता के संकेतों से ही पैदा हुआ होगा।

9

शास्त्रीयतावाद

साहित्य के प्रति राय का लगाव उनके शास्त्रीयतावाद का मूलभूत तत्व है। शांतिनिकेतन स्थित टैगोर के विश्वविद्यालय में उनकी दीक्षा एक चित्रकार के रूप में हुई थी। पश्चिमी संगीत की उन्हें गहरी जानकारी थी, साथ ही उन्होंने भारतीय संगीत में भी गहरी दिलचस्पी विकसित की, पूर्वी और पश्चिमी कला की शायद ही कोई ऐसी शाखा हो जिसके बारे में उन्हें जानकारी न हो और जिस पर वे अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त न कर सकते हों। उन्होंने चित्रकला (*द इनर आइ,* अपने गुरु विनोद बिहारी मुखोपाध्याय की चित्र कृतियों पर) और नृत्य कला (*बाला,* सुप्रसिद्ध दक्षिण भारतीय नृत्यांगना सरस्वती पर) पर महत्वपूर्ण वृत्तचित्रों का निर्माण किया। तथापि फिल्म निर्माण के प्रति उनकी दृष्टि वर्णात्मक और व्याख्यात्मक पर ही आधारित थी। उनकी फिल्मों की संरचना उपन्यास की तर्ज पर थी, वह भी आधुनिक उपन्यास की तर्ज पर नहीं, उनके वृत्तचित्र भी, कभी भी प्रभाववादी नहीं रहे, उनकी निर्मिति स्पष्ट विवरणात्मक और दृढ़ वस्तुनिष्ठ—वर्णनात्मक आधार पर की गई। आनंद कुमारस्वामी पर एक फिल्म की मेरी परियोजना (*डांस आफ शिवा,* 1973) के बारे में मुझसे बातचीत करते हुए राय ने कहा था, "तुम क्या सोचते हो कि गैरमहत्वपूर्ण क्या है, तुम्हें वह सब दिखाना ही चाहिए जो उन्होंने सोचा और किया।" मेरी दृष्टि से वर्णन के बजाय जो कुछ भी प्रभाव पैदा करने वाला हो सकता था उसका उन्होंने लगातार खंडन किया। राय एक लेखक थे, राय ने पूछा "उनके लिखते हुए का शाट कहां है?"

सिवाय उन फिल्मों के जो उनकी अपनी कहानियों पर थीं, राय की फिल्में ख्याति प्राप्त साहित्यिक मूल कथाओं, अधिकांशतः प्रतिष्ठित कृतियों पर आधारित थीं। अपु, चमत्कारी बालक की गाथा पर लिखे गये विभूति भूषण के उपन्यासों में एक आनंददायक असंबद्ध प्रवाह है जो प्रकृति की वंदना में विलीन होता रहता है। *अपराजितो* को आंशिक अपवाद के तौर पर लें तो राय अपनी संरचना को बहुत ही अनुशासित रखते हैं और अपनी भावनाओं को एक बहुत ही कसे हुए सांचे में ढाले रखते हैं। उनका ऐसा करना आंशिक रूप से उनकी आवश्यकता से प्रसूत था, और आंशिक रूप से मुझे लगता है उनकी प्राथमिकता से भी प्रसूत था। राय की यह शैली रेनेवां की उस शैली से बहुत भिन्न है, जिसकी आंद्रे

बेजिन भरपूर प्रशंसा करता है। रेनेवां प्रायः बीच में ही रुक जाते हैं, भूल जाते हैं कि वे कहां जा रहे थे, कोई न कोई वस्तु उनके युवा मन को गिरफ्त में लेकर इधर-उधर खींच लेती है। कुछ कुछ ऐसा ही स्वयं विभूतिभूषण के साथ भी होता है। *त्रयी* में जो भावनात्मक गहराई राय पैदा करते हैं, सौंदर्य और नश्वर का जो सुकुमार और अनिर्वचनीय आह्वान उनमें पैदा होता है वह कहानी की संरचना में ही कुशलता से पिरोया हुआ रहता है और उसकी अभिव्यक्ति अत्यधिक मितव्ययता से होती है। राय की अधिकांश फिल्मों में असंबद्ध विचलन के लिए कोई स्थान नहीं है।

राय की अपनी कहानियों का फिल्मांकन और भी अधिक कसा हुआ है, कहीं कहीं तो उनमें अतिशय कसाव का बोध भी आ गया है। *कंचनजंघा* में कार्य-व्यापार की समय अवधि उतनी ही है जितनी कि फिल्म की अवधि है, और घटना पर्वतीय नगर दार्जलिंग के बहुत छोटे से भाग में घटित होती है, समय, स्थान और कार्य की अन्विति इससे अधिक कसाव के साथ नियोजित नहीं की जा सकती थी। इसके बाद नायक का स्थान है जिसमें एक रात की रेल यात्रा अभिनीत की गयी है, हालांकि इसमें सात पूर्व दृश्यों (फ्लैश बैक) और दो स्वप्न दृश्यों को समाहित किया गया है। प्रत्यक्षतः अन्वितियों का यह आग्रह फिल्म के प्रवाह पर कतिपय योजनाबद्धता को आरोपित करता है। इस आरोप का तनाव नायक में स्पष्ट दिखाई देता है। बच्चों की फिल्मों में कहीं अधिक सहज प्रवाह है और उनमें आकर्षण की ऐसी गहराई है जो उन फिल्मों को हल्की-फुल्की मानकर नकार देने वालों को नजर नहीं आती।

इसमें संदेह नहीं है कि जहां वे साहित्य को सिनेमा में बदलते हैं वहीं उनकी प्रतिभा अपने वास्तविक रूप में सामने आती है तो, यह विस्मयकारी है कि वे विभूति भूषण और टैगोर की कृतियों को इतनी गहराई के साथ आत्मसात कर लेते हैं, इन्हें वे उसी तरह पचा लेते हैं जिस तरह *पारस पत्थर* में युवक अपनी उत्कृष्ट पाचन प्रणाली के चलते पत्थर को पचा लेता है। अपने प्रारंभिक वर्षों में उन्होंने श्रेष्ठ साहित्यक को साहित्य की पूर्णता के साथ ही फिल्माया है। उन्होंने इस साहित्य को रचनात्मकता से कहीं अधिक ऊंचे स्तर पर प्रतिष्ठित किया है, विश्वसनीयता के अर्थ में साहित्य को सिनेमा की विविधता पूर्ण दृष्टि गोचरता में बदलना हमेशा ही अधिक कठिन काम रहा है। साहित्य में आगमनात्मक तर्क की अपेक्षा निगमनात्मक तर्क अधिक महत्वपूर्ण होता है। सिनेमा में दर्शक जो अपने मन में दृश्यों की कल्पना नहीं कर रहा होता बल्कि अपने सामने घटित होता देख रहा होता है, शीघ्र ही वास्तविकता की अपनी अवधारणा और अनुभव पर वापस लौट आता है और निर्देशक की अवधारणा या अनुभव के सापेक्ष अपने अनुभव की परीक्षा करने लगता है। *त्रयी* और *चारुलता* दोनों में ही राय मूल पाठ से पर्याप्त दूर हटे, लेकिन क्योंकि ये फिल्में अत्यधिक विश्वसनीय मानी गई इसलिए इनमें न तो दर्शकों ने ही कोई दोष देखा और

न ही समीक्षकों ने। एकाध समीक्षक को अपवाद माना जा सकता है। विभूति भूषण का अपु एक प्रकार का दैवी चमत्कारी बालक है, जो उपन्यास के अंत में, अनिश्चित दूरस्थ स्थानों के भ्रमण के लिए न केवल अपने पुत्र का परित्याग कर देता है बल्कि कुछ अंतराल के बाद "देवजन" पुकारा जाने लगता है, और अंततः वह एक देवदूत हो जाता है—यह यथार्थवादी सिनेमा का यथा रूप तत्त्व नहीं है। टैगोर की कहानी में चारुलता का पति ऐसी पत्नी के साथ रहने से इंकार कर देता है जो निरंतर एक अन्य पुरुष के बारे में सोचती रहती है, और वह दक्षिण भारत में नौकरी के लिए पलायन कर जाता है। राय में असहाय औरत अपने आंसू पोंछ लेती है, और अपने पति को उस समय अंदर आने का आमंत्रण देती है जब वह दहलीज पर खड़ा झिझकता है। वह जानती है कि वह एक निर्जीव जीवन में प्रवेश कर रही है (हाथ स्पर्श से पहले ही "फ्रीज" हो जाते हैं।) इस तरह फिल्म का अंत अधिक व्यावहारिक और विश्वसनीय बन जाता है।

बाद की फिल्मों में प्रायः उन्होंने युवा लेखकों की तात्कालिक कहानियां लीं। और उन्होंने *अरण्येर दिनरात्रि, प्रतिद्वंद्वी, सीमाबद्ध* और *जन अरण्येर* जैसी कहानियों को उस रचनात्मक स्तर तक उठाया जिस स्तर की कल्पना इन कहानियों के लेखक स्वप्न में भी नहीं कर सकते थे। कहानियों में निसंकोच परिवर्तन किये गये और कभी कभी तो ऐसे कि तैयार कृति करीब करीब अचानक नयी जैसी लगने लगी, फिर भी उन्हें लेखकों से ऐसे पात्र और स्थितियां प्राप्त करने की जरूरत थी जिनसे स्वयं उनकी तुलना में लेखक कहीं अधिक परिचित थे। इन पात्रों और स्थितियों में एक मूल संरचना निहित होती थी जिनके आधार पर फिल्म की निर्मिति की जा सकती थी।

श्रीलंका के निर्देशक लेस्टर पेरीज को लिखे एक पत्र में (मैरी सेटन के *पोर्ट्रेट आफ ए डायरेक्टर*, सत्यजीत राय में उद्धृत) राय ने खेद व्यक्त किया है कि—

> फिल्म के बाह्य का महत्व पहले की तुलना में अधिक बढ़ना शुरू हो रहा है। लोग इस बारे में चिंतित होते हुए नहीं दिखते कि आप क्या कहते हैं, यदि आप जो कह रहे हैं उसे पर्याप्त अस्पष्ट या अप्रत्यक्ष और गैरपारंपरिक तरीके से कह रहे हैं तो—और एक सामान्य दिखने वाली फिल्म कमतर आंक ली जाती है—मेरा आशय यह नहीं है कि सभी नये यूरोपीय फिल्म निर्माता प्रतिभाविहीन हैं लेकिन यह मेरी गंभीर आशंका अवश्य है कि क्या वे सेक्स के अत्यधिक उदार दोहन के बिना, जिसकी अनुमति उनकी सामाजिक संहिता उन्हें देती हुई प्रतीत होती है, आजीविका कमाना जारी रख सकते थे।*

*यहां वे स्पष्टतः सामान्य से कम थे। उदाहरण के लिए फ्रांसिसी नयी फिल्मों के निर्माताओं ट्रफाऊट या गोदार्ज; डेमी या रेनेसा या सोब्रोल की फिल्मों में सेक्स का दोहन कतई नहीं है। ऐसी हलकी टिप्पणी उन्होंने किस बात से प्रभावित हो कर की, यह बता पाना मुश्किल है।

विदेशों के अलावा अपने घर बंगाल में भी उन्हें सुहासनी मुले के व्यक्तित्व के सिवाय किसी में भी वैसी ताजगी दिखाई नहीं देती थी जैसी कि अन्य लोगों को मृणाल सेन के भुवन शोम में दिखाई देती थी। इसी प्रकार वे भारतीय निर्देशकों को भी नापसंद करते थे जो अभिव्यक्ति के गैरपारंपरिक रूपों को अपनाते थे। अपने लेखों के संग्रह 'अवर फिल्म्स देअर फिल्म्स' में मणि कौल और कुमार साहनी पर चर्चा करते हुए उन्होंने उनकी संभाव्य कैसी भी प्रतिभा का उल्लेख किये बगैर उनकी फिल्मों की अर्थ क्षमता की कमी के बारे में बात की। दूसरे शब्दों में, उनके लिए एक ही प्रकार का फिल्म निर्माण वैध था—शास्त्रीय।

मानवीय भावनाओं को बल प्रदान करने के लिए प्रकृति के विविध रूपों का इस्तेमाल साहित्य की पुरानी तकनीकों में से एक है। (कारुणिक हेत्वाभास)—प्राकृतिक उपादानों के प्रयोग से आधुनिक उपन्यासकार बचने के लिए या उसे परोक्ष बनाने के लिए उतने ही उत्सुक रहते हैं जितने कि उत्सुक शास्त्रीय इन उपादानों को उजागर करने के लिए रहते थे। प्रकृति का प्रयोग राय की एक प्रिय तकनीक है और वह इसका इस्तेमाल शास्त्रीय शैली में करते हैं—प्रत्यक्ष और प्रभावी।

प्रकृति तकनीक—का जैसा पुनरावृत्तिपूर्ण चमत्कृत कर देने वाला और सफल प्रयोग *चारुलता* में हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं। अमल चौड़ी धारीधार कमीज पहने, पहले तूफान के बीच उसके बाल उड़ रहे हैं और छाता ऊपर उठा हुआ है, उस समय आता है जब दंपति के दैनिकचर्या में सतही शांति स्थापित हो चुकी है, लेकिन हमें पत्नी की आंतरिक बेचैनी की जानकारी मिल रही है। यह साहित्यिक पृष्टोक्ति है जो इतनी पुरानी हो चुकी है कि इसे सिनेमा में स्थानांतरित करते हुए भी (जहां यह हमारी स्मृति पर अपेक्षाकृत कम दबाव पैदा करती है) राय इसे अमल की हास्यपूर्ण चिल्लाहट—"हरे मुरारी मधुकैटभारे", (हे कृष्ण, मधु और कैटभ दानवों का संहार करने वाले) के आवरण में ढकने की कोशिश करते हैं। अमल की चिल्लाहट में एक आत्म-सजगता है जो निर्देशक की, प्राचीन तकनीक का प्रयोग करने में अपनी आत्म-सजगता को प्रतिबिंबित करती है। यह तकनीक बस कारगर ही होती है, राय यहां अति साधारण बनने से बाल-बाल ही बचते हैं, वह तुरंत ही दूसरे दृश्य पर आ जाते हैं—इससे पहले कि इस नाटकीय टेक "अवलंब" के जोड़ों में चरमराहट की आवाज सुनना शुरू करें।

इसके बाद वहां तूफान आता है (बंगाल की गर्मियों में तूफानों का आना आम है), बगीचे के अंतिम दृश्य के बाद जहां चारु को पता लगता है कि उसमें अमल की रुचि वास्तविक नहीं है बल्कि उसके पति द्वारा प्रेरित है। बादलों की गड़गड़ाहट होती है, अमल उसे खोजता हुआ आता है, अपनी साहित्यिक क्षमता, पुरुष प्रधानता और अपनी स्वभावगत दायित्वहीनता के दंभ में वह इतना लीन है कि वह नहीं जान पाता कि किस बात ने चारु को इतना आहत कर दिया है। दरवाजे के निकट उसे मंदा मिलती है, (उसने पहली बार

मंदा को देखा था तभी से वह उसके प्रति शारीरिक आकर्षण में बंध गया था) उसे बताया जाता है कि चारु बारजे पर है, वह अस्थिर मन से उसके कमरे की दिशा में चल देता है हवा का शोर उठता है, चारु अपनी बांह में कपड़ों का एक बंडल दबाये आती है, कटुता से मंदा को (जिसे वह अपनी प्रतिद्वंद्वी के रूप में पहचान चुकी है) उसकी औकात बताती है, क्योंकि यह देखकर कि तूफान आ रहा है मंदा को ही कपड़े लेकर नीचे आना चाहिए था। पुनः यहां तूफान, उस तूफान का रूपक है जो चारु के मन में उमड़ रहा है, शास्त्रीय साहित्यिक शैली में जो सिनेमा में निरापद बनी रहती है जहां यह अनभिज्ञ रहती है या पकड़ में नहीं आती। शायद यह किसी काल खंड को दर्शाने वाली फिल्म में अधिक मौजूद होती है। राय इस शैली का प्रयोग संभवतः इतनी स्वतंत्रता और इतने सीधे ढंग से, तात्कालिक विषय के प्रतिपादन में नहीं करते।

लेकिन इस शैली का प्रयोग इतनी खूबसूरती से फिल्म के अंत में, चारु के रो पड़ने के दृश्य में हुआ है वैसा अन्यत्र नहीं हुआ। पति-पत्नी अपनी अपनी क्षति को स्वीकार कर अभी अभी समुद्र तट से लौटे हैं, भूपति की क्षति उजागर है जो धन और मनुष्य के प्रति विश्वास की क्षति है इसका कारण उस प्रबंधक (चारु का भाई) का विश्वासघात है। चारु की क्षति गुप्त है जो अमल के रूप में है जो यह अनुभव करके कि वह एक और विश्वासघात करने वाला है, गायब हो गया है।

अमल का पत्र आ गया है, भूपति द्वारा पढ़ लिया गया है और चारु अब जान गयी है कि उसने (अमल) शादी करने और इंग्लैंड चले जाने का फैसला कर लिया है। भूपति ने थोड़ी देर को बाहर जाने के लिए कमरा छोड़ा, चारु के हाथ में पत्र है, अमल के साथ के आनंद की स्मृतियां उसके अंदर उमड़ती हैं, बाहर तूफान उठ रहा है। हवा लहराती है, बादल गड़गड़ाते हैं, और भारतीय सिनेमा में किसी भी औरत द्वारा अभिनय के श्रेष्ठतम क्षणों में से निश्चित तौर पर एक में, माधवी मुखर्जी व्यग्रता से स्वयं को नियंत्रित करने का प्रयास कर रही है। एक खिड़की खड़खड़ाती है, कांच एक तनावपूर्ण खनक के साथ बिखरता है और माधवी बिस्तर पर गिर पड़ती है, नियंत्रणहीन हिचकियां फूट पड़ती हैं, वह पहली बार अपना रहस्य जोर जोर से बोलकर बाहर करती है। ठीक इसी समय उसके पति को अपना छाता लेने के लिए और माधवी के शब्द सुनने के लिए वापस आना होता है। उस खनक का समय ठीक ठीक आकलित है और अपने उद्देश्य में पूरी तरह सफल। यह सिर्फ वैसा काव्य नहीं है जो फोर्ट अपाशी, टीन के डिब्बे में मारी गई लात और फिर नीचे खड्ड में इस डिब्बे के गिरने से हल्की सी ध्वनि से पैदा होता है (*अवर फिल्म्स देअर फिल्म्स*) : यदि संगीतात्मक गुण राय के साहित्यिक नाटकीय उद्देश्यों को पूरा न करे तो *चारुलता* में उस गुण का कोई महत्व ही नहीं रहेगा।

राय का शास्त्रीयतावाद, उनके दृष्टिकोण के अन्य अनेक पहलुओं की तरह टैगोर

से व्युत्पन्न है। ऐसा टैगोर में ही था कि बंगाल पुनर्जागरण के पूर्व और पश्चिम के समुचित विलय के रूप में, व्यग्र सुधारवाद ने अपना वास्तविक सामंजस्य प्राप्त किया। भारत के बारे में यह टैगोर की ही अवधारणा थी जो पारंपरिक होते हुए भी आधुनिक थी, नयी उम्मीद की चमक थी जिसके दरवाजे और खिड़कियां पूरे विश्व के लिए खुले हुए थे, और जिसने नेहरूवादी स्वप्न को जमीन प्रदान की। नेहरू, गांधी और टैगोर के बीच ही कहीं खड़े होते थे, नेहरू की नये भारत की अवधारणा में से टैगोरवादी मूल्यों का प्रभाव कभी भी पूरी तरह अस्वीकृत नहीं हुआ। वस्तुतः नेहरू युग के आदर्शों में, यदि वास्तविकता में नहीं तो टैगोरवादी मूल्यों को नयी अभिव्यक्ति मिली।

उस युग का आदर्शवाद प्रायः चरित्रगत अप्रिय सच्चाइयों और मानव स्वभावगत अपरिहार्य विरोधाभासी भावनाओं की अनदेखी कर देता था। उस काल के जीवनीकार, मनुष्य को उसके पूर्ण मनो-संसार के साथ चित्रित नहीं करते, वे अधिक श्रेष्ठ और सार्वजनिक रूप से प्रदर्शित किये जा सकने वाले गुण व्यवहारों का चुनाव करते हैं। स्वयं टैगोर ने अपने निजी जीवन को कभी भी उस तरह उजागर नहीं किया जैसे गांधी ने किया था, गांधी का दृष्टिकोण भारत में मध्य वर्ग के उभार के ढांचे में सीमित नहीं था : टैगोर का दृष्टिकोण था। अपने श्रेष्ठतम रूप में टैगोरवादी विशेषताएं पात्र की आदर्श छवियों के रूप में प्रकट हुईं : अपने निकृष्टतम रूप में यह प्रवृत्ति पाखंडपूर्ण थी, कुछ कुछ प्यूरिटनवादी, कुछ फ्रायड से भयभीत। यह जीवन की यथातथ्य वर्णन के अनुकूल नहीं थी। अपने प्रारंभिक कामों में (*चारुलता* तक) राय ने मध्यवर्ग के पूर्ववर्ती विकास को उसी तरह चित्रित किया जैसा कि टैगोर के वर्चस्व वाली लंबी अवधि में अभिव्यक्त हुआ था। यह वह गुण था जिसने स्वयं राय और उनकी पीढ़ी के निर्माण में योगदान किया था, जिसे वे जानते और समझते थे। मोटे तौर पर टैगोरवादी धारा ने उनके अनुभव की पृष्ठभूमि तैयार की। यह आवश्यक नहीं कि हर अनुभव स्वानुभूत हो : टैगोर युग के साहित्य में अभिव्यक्त लोग, उनकी वेशभूषा, उनकी प्रवृत्तियां, पुनरावृत्ति और निरंतर व्याख्या के माध्यम से उनके, निजी अनुभव तंतुओं का हिस्सा बन गये थे। राय के प्रारंभिक पात्र उस युग के वर्गीकरण की मोटी रूप रेखाओं के भीतर, दृढ़ता से समेकित रूप में, सीमित हैं। कमोबेश वे सब के सब एक जैसे हैं और उनमें आंतरिक द्वंद्व यदाकदा ही दिखाई देता है।

जब भी राय इस ढांचे से बाहर आते हैं उनकी सहजता भंग होने लगती है, *जलसा घर* का पूंजीपति एक असंतुलित "कट आउट" (बनावटी) है : *अभियान* का टैक्सी ड्राइवर अपनी मध्यवर्गीय मानसिकता को प्रकट करने से कभी भी नहीं चूकता (तुलना करें तो ऋत्विक घटक की *अजांत्रिक* में काली बनर्जी द्वारा अभिनीत पात्र अधिक विश्वसनीय है) *कापुरुष* का चाय बागान मालिक बनावटी न होने का भरसक प्रयास करता है लेकिन पूरी तरह सफल नहीं होता। नायक का सिनेनायक अपेक्षाकृत रूढ़िहीन ढंग से भावी नायिकाओं

के निवेदनों को ठुकराता है (यद्यपि अन्यथा वह ऊबाउ होने की हद तक रूढ़ है) शायद राय के पवित्रतावादी दर्शन के सम्मान में : *प्रतिद्वंद्वी* में जब नर्स अपनी चोली उतारती है तो उसकी छवि स्याह हो जाती है।

इससे भी अधिक, उनकी अनेक बाद की फिल्मों में उत्तर-टैगोर युग के पात्रों का अवलोकन टैगोरवादी नैतिक दृष्टि से किया गया है। *जन अरण्येर* में नैतिक न्याय का केंद्र बिंदु अवकाश प्राप्त पिता में निहित है जो अपने समय के सद्गुणों की स्मृति लिये हुए है। संक्षिप्त प्रेम प्रसंग का अवलोकन बाहर से किया जाता है: *प्रतिद्वंद्वी* में पीड़ित विराट मानव समुदाय को सतह के ऊपर से अवलोकित किया जाता है। कहने का यह अर्थ नहीं है कि ये फिल्में सहानुभूति और समझ रहित हैं, किंतु यह है कि वे उन सूत्रों की ओर संकेत करती हैं जो उन्हें निर्देशक के पात्रों के प्रति उस उत्कट संलिप्तता से अलग करते हैं जो जागृति नारी की त्रयी फिल्मों (*महानगर, चारुलता, कापुरुष*) के पात्रों के साथ दिखाई देती थी। राय अब स्वयं खाक नहीं छानते, वे एक प्रेषक हैं, उस कुछ कुछ अपरिचित वातावरण को समझने की कोशिश करते हैं जो उनकी अपनी प्रकृति के लिए अंजाम मूल्यों का पोषण कर रहा है। ऐसा नहीं है कि वे युवा पीढ़ी की भर्त्सना करते हों, बात इतनी है कि वे स्वयं को उस बिंदु पर ठहराने में अक्षम हैं जहां से वह दिशा जिसमें सकारात्मक शक्तियां नयी जागरूकता भरी उम्मीद और मानवता की ओर बढ़ रही हैं, साफ साफ दृष्टिगोचर होती है। इस संदर्भ में से उनकी एक प्रारंभिक फिल्म *अरण्येर दिनरात्रि* अधिक विश्वसनीय है जो स्वयं को विशुद्ध रूप से नैतिक मूल्यों से संबद्ध करती है। फिर यह फिल्म उन राजनीतिक शक्तियों से संबंधित नहीं है जिन्होंने *प्रतिद्वंद्वी* और *जन अरण्येर* के वर्षों में एक डरावनी पहचान प्राप्त कर ली थी (एक फिल्म के समय राजनीतिक हत्याएं आम दिनों की घटनाओं में आ गयी थीं और दूसरी फिल्म के समय आपातकाल की विभीषिका कदम रख चुकी थी)।

चरित्र चित्रण में भी एक दिशोन्मुखता के प्रति स्पष्ट आग्रह दिखाई देता है। मानसिक संरचना के अंतर्विरोधों के प्रति राय का स्वाभाविक रुझान नहीं दिखता। एक उदाहरण जो याद आता है प्रियगोपाल का है—*महानगर* में वृद्ध पिता। आरती के नौकरी करने का उसका विरोध अपने प्रयोजन में पर्याप्त रूप से स्पष्ट नहीं है, विरोध का प्रयोजन एक स्थापित दृष्टिकोण की वजह से है जो वैयक्तिक होने के बजाय प्रतिनिधिक अधिक है (समूह चरित्रगत)। इसे जब अपने विद्यार्थी की सफलता पर प्रियगोपाल की अप्रसन्नता और अपने विद्यार्थियों से पैसा उगाहने की उसकी अभिरुचि के साथ रखा जाता है तो यह असंबद्धता नजर आती है। जैसा कि प्रियगोपाल की दूसरी प्रवृत्ति समूहगत होने के बजाय स्पष्ट रूप से व्यक्तिगत है। यहां यह आधुनिक कथा साहित्य का एक ऐसा पात्र है जो पूर्व युग के वर्गीकरण से अपेक्षाकृत बाहर पड़ता है और शायद इसी कारण वह उस पूर्णता में नहीं

समझा जाता जिस पूर्णता में राय की परिधि में आने वाले अन्य पात्र समझे गये हैं। *त्रयी* का अपूर्व, *जलसा घर* का विश्वंभर राय, *देवी* का उमा प्रसाद, *समाप्ति* का अमूल, *चारुलता* का भूपति या अमल, जो उनकी कुछ पुरानी फिल्मों के पात्र हैं और *अरण्येर दिनरात्रि* या *सीमाबद्ध, नायक* या *प्रतिद्वंद्वी* जैसी कुछ नयी फिल्मों के नायकों को देखें तो उन सबके चेहरे एक निश्चित विशिष्ट दिशा की ओर उन्मुख दिखाई देते हैं, मैं पात्र के भीतरी अंतर्विरोधों की इस कमी को व्यवहार की जटिलता से स्पष्टतः अलग दिखाना चाहता हूं। राय के एक दिशोन्मुख पात्र अपने प्रयोजनों और व्यवहारों में प्रायः काफी जटिल हैं। चारु के मन का विश्लेषण परत-दर-परत, क्षण-प्रतिक्षण किया जाता है और यह एक बहुत ही समृद्ध अनुभव है। कभी कभी वह विपरीत दिशाओं की ओर खिंचती दिखाई देती है, अपने पति की ओर, अपने प्रेमी की ओर। लेकिन विपरीत दिशाओं की ओर वह स्वयं पहलकदमी नहीं करती। बाद की फिल्में पुरानी फिल्मों के इस विशेष गुण को बनाये रखती हैं।

ब्रिटिश काल के दौरान और स्वतंत्र भारत के भी एक कालखंड में भारतीय प्रगति का प्रणेता सांस्कृतिक कुलीन वर्ग रहा है जो बंगाल में प्रमुखतः समृद्ध जमींदार के रूप में पहचाना जाता था। यह जमींदार वर्ग भू राजस्व के ब्रिटिश प्रबंधन की "स्थायी बंदोबस्त" प्रथा द्वारा तैयार किया गया था। टैगोर स्वयं भी एक बड़े परंपरागत जमींदार थे, उनकी तरह बंगाल में अन्य अनेक लोगों ने उस अवकाश का सदुपयोग किया जो उन्हें उनकी सामाजिक हैसियत ने प्रदान किया था, और उन्होंने अपने समय के अधिकांश सुधारवादी तथा बौद्धिक आंदोलनों की शुरुआत की। कुलीनतावाद, जो इस संदर्भ से जुड़ा हुआ है, अपने साथ उस अपकीर्ति को नहीं लिए हुए है जो उसके साथ हाल के दशकों में जुड़ गई है।

सत्यजीत राय के नायक-नायिकाओं के रूप-रंग पर गौर करना भी रोचक है। उनमें से बहुत के नैन नक्श शास्त्रीय ढंग से सुंदर हैं, युवकों में से सौमित्र चटर्जी, जो *अपराजितो* और *अपुर संसार* के उत्तरार्द्धों में युवा टैगोर की छवि का आभास कराता है, प्रत्यक्षतः राय का प्रिय रूप वर्ण है। नायक की दृष्टि सांस्कृतिक कुलीन के साथ स्पष्ट नैकट्य का प्रतिनिधित्व करती है : रूप और वर्ण ब्राह्मण, रवीन्द्रिक (टैगोरियन) हैं जिसे अपर्णा की मां *अपुर संसार* में पहली दृष्टि में देवतुल्य बताती है। बाद की फिल्मों में चित्रित सहानुभूतिपूर्ण पात्र प्रकार में समान हैं, बाद का अंतर्मुखी अपु समय के साथ धीरे धीरे बदल गया और फिर भी वह पहचान योग्य बना रहा—*प्रतिद्वंद्वी* में धृतिमान चटर्जी, *जन अरण्येर* में प्रदीप मुखर्जी। युवा महिलाओं में दो सर्वाधिक महत्वपूर्ण हैं—शर्मिला टैगोर और माधवी मुखर्जी। यह जानना रोचक है कि अन्य महिलाएं किसी भी फिल्म में वास्तविक रूप से अहम भूमिका नहीं निभातीं। यह बिना किसी कारण नहीं था कि *देवी* में शर्मिला टैगोर को देवी की भूमिका दी गई थी : शर्मिला स्पष्टतः उसी तरह की है जिसे बंगाल में दुर्गा समान कहा जाता है।

देवी की मूर्ति के साथ उसकी समानता, फिल्म के शुरू में और अंत में बहुत स्पष्ट है, हालांकि माधवी मुखर्जी के नैन-नक्श इतने वैयक्तिक हैं कि उन्हें इस श्रेणी में नहीं रखा जा सकता, फिर भी उसका अपना विशेष सौंदर्य है और एक आत्मविश्लेषी पक्ष है जो उसे सांस्कृतिक कुलीनों के बीच ले आता है। बबिता *अशनि संकेत* में ब्राह्मण पत्नी के रूप में, शर्मिला या माधवी जैसा अंर्तदर्शन नहीं है लेकिन उच्चवर्गीय रूप वर्ण है।

इस तरह उनके काम के ये पुराने पहलू हैं, (अपनी द *अपू ट्राइलोजी* में जिनमें से कुछ के समर्थन के लिए रॉबिन वुड बाध्य होता है) जो केवल शास्त्रीय ढांचे के संदर्भ में ही समझे जा सकते हैं।

10

रचनात्मक दृष्टियां

सत्यजीत राय की फिल्म की पांडुलिपि की न कभी प्रतिलिपि तैयार की गई, न उसे जिल्दबद्ध किया गया और न वितरित। राय जब इसे अपनी अवधारणा समझाने के लिए अभिनेताओं के सामने पढ़ते थे तो उसे अपनी छाती के निकट रखते थे। इसमें संवाद, अभिनय की टिप्पणियां और अवस्थान (लोकेशन) के अलावा भी बहुत कुछ होता था, इसमें रेखांकन, आख्यायन, संगीतात्मक परिकल्पनाएं, विस्तृत विवरण जो उनकी मूल धारणा को स्मृत करायें, और संबंध, चेहरे, स्थान आदि होते थे जो फिल्मांकन और संपादन के समय तक के लिए तय रहते थे। *अपराजितो* की स्क्रिप्ट में एक टिप्पणी में पूछा गया है : सर्वजया अपना धन कहां रखती है?

वर्षों के अनुभव के साथ राय ने फिल्म निर्माण के कई विभागों में अपना प्रवेश करा लिया था। वे अपनी स्क्रिप्ट हमेशा स्वयं लिखते थे, कभी कभी अपनी कहानियां भी वह तैयार करते थे, वे किसी और की स्क्रिप्ट पर फिल्म बनाने की स्वप्न में भी नहीं सोच सकते थे। *पाथेर पांचाली* के दिनों में भी मैं उन्हें मशीन पर काम करते हुए संपादक के पीछे खड़ा हुआ देखता था। जब वे फिल्म देख रहे होते थे तो अपने रुमाल को चबा डालते थे और फिल्म संपादक कभी कभी रचनात्मक सुझाव दे दिया करता था, जिनमें से कुछ को वे बाल सुलभ रोमांच के साथ स्वीकार कर लिया करते थे और अन्य को अपने निर्भाव चेहरे से अस्वीकार कर दिया करते थे। लेकिन इस बात का कोई सवाल ही नहीं उठता था जैसा कि पश्चिम में होता था कि फिल्म की तराश संपादक पर छोड़ दी जाये, बाद में इसे सहमति दी जाए और अन्य लोगों की प्रतिक्रिया के आधार पर एक-दो छोटे-मोटे परिवर्तन कर दिए जाएं। राय के लिए फिल्म निर्माण का प्रत्येक छोटा कदम बड़े महत्व का अंतरंग कार्य हुआ करता था जिसे केवल वे ही संभाल सकते थे। उनकी यह शैली उस हॉलीवुड के विपरीत थी जिसे बहुत से लोग उनका परामर्शदाता मानते थे, आंशिक रूप से वे स्वयं भी ऐसा मानते थे।

इसके विपरीत सिडनी लुमेट का दृष्टिकोण है : "अपने बाक्स आफिस वर्चस्व के बावजूद लुमेट कभी कभी समीक्षात्मक प्रशंसा प्राप्त करने में असफल रहता है, उसकी प्रतिभा कुछ

का दावा है कि वैयक्तिक होने की बजाय व्याख्यात्मक थी। इन आलोचकों का आरोप था कि वह ऑटर (ऐसा फिल्म निर्माता जिसकी वैयक्तिक शैली और निर्माण के सभी तत्वों पर उसका पूर्ण नियंत्रण फिल्म पर वैयक्तिक और अप्रतिम प्रभाव छोड़ते हैं) नहीं थे। लुमेट गहरे फ्रेम के चश्मे के भीतर से जिनकी आंखें चमकने लगती हैं, उन आलोचकों का उपहास करते थे : "मेरे लिए फिल्म एक प्रदर्शक, सामुदायिक कला रूप है। एक अकेले व्यक्ति का कार्य नहीं।" वह अभिनेताओं तथा निर्माण दल के अन्य सदस्यों पर अपनी निर्भरता को स्वीकार करते हैं और अननुमेय कारकों पर भी—यहां तक कि मौसम पर भी, "मेरे विचार से इसका जादू इसकी सामुदायिकता में ही है।" वास्तव में लुमेट की *प्रिंस ऑफ द सिटी* की एक स्क्रिप्ट कांफ्रेंस के एक फोटोग्राफ में मैंने एक मेज के चारों ओर घिरे हुए बाइस सिरों को गिना था। यह सारा काम लागत से भी जुड़ा हुआ है, ऐसी लागत से जिसे कोई भी तीसरी दुनिया का ईमानदार निर्माता वहन नहीं कर सकता। प्रायः यह कहा जाता था कि राय की एक श्रेष्ठ फिल्म का निर्माण हिंदी और तमिल मुख्यधारा की फिल्मों के परिवहन बजट के एक अंश से ही किया जा सकता था। जब यह कहा गया कि एटनबरो की *गांधी* फिल्म पर दो करोड़ डालर की लागत आई थी तो राय ने कहा था कि वे इसी फिल्म को पचास लाख भारतीय रुपयों से कम में बना सकते थे (उस समय चार लाख अमेरिकी डालर से कम के बराबर)।

एक्टिंग का निर्देशन ऐसी चीज है जहां अधिकांश फिल्म निर्माता पूरे विस्तार में जाते हैं, शायद राय की तुलना में कहीं अधिक विस्तार में। राय शूटिंग से पहले संवादों की रिहर्सल नहीं करवाते थे जैसे कि अन्य निर्देशक करवाते हैं। संवाद उनकी फिल्मों में नाटक से बहुत भिन्न भूमिका निभाते हैं, और ये वातावरण का इतना अविभाज्य हिस्सा होते हैं कि एक कमरे के भीतर इनकी रिहर्सल करना इन्हें अर्थहीन बना सकता है। दूसरी ओर, प्रमुख रूप से गैर व्यावसायिकों के साथ, वे सिर के प्रत्येक कोण, हर छोटी से छोटी भाव भंगिमा का निर्देश देते थे। अपने पात्र को सही सही ढाल चुकने के बाद वे अभिनेता की प्राकृतिक क्षमता और अभिव्यक्ति पर भरोसा करते थे कि इन्होंने जो कुछ भी मानवीय महत्व के साथ बताया है उसे वह अपने हाव-भाव से अभिव्यक्त करे। बच्चों के साथ वे घुटनों के बल झुक जाया करते थे और एक षड्यंत्रकारी के जैसे ढंग से फुसफुसाया करते थे, लेकिन उनसे हर संभव समान रूपता प्राप्त करने की कोशिश करते थे। केवल शेष (जो काफी कुछ रह जाता था) को ही बच्चे के अपने सहज व्यवहार पर छोड़ते थे। जहां तक व्यावसायिक अभिनेताओं की बात थी, बहुत कुछ मौन समझ पर छोड़ दिया जाता था, लेकिन स्थितियां, चेष्टाएं, मुद्राएं बहुत स्पष्टता से बताई जाती थीं। अपने कैरियर की शुरुआत में ही, *अपराजितो* के तुरंत बाद, राय *जलसा घर* में छवि विश्वास को निर्देशित कर रहे थे। इस प्रसिद्ध अभिनेता से बहुत से निर्देशक भय खाते थे, जिन्हें प्रायः छवि विश्वास ही निर्देशित

किया करते थे। राय के सैट पर उन्होंने पूरी वेशभूषा में आकर और यह पूछकर, "राय साहब मुझे कहां खड़ा होना है", सबको कौतूहल में डाल दिया था। राय ने उनसे कहा और दिखाया कि उन्हें कब अपने उभरे पेट पर हाथ मारना है, और कब शीशे में देखना है। एक अभिनेता की प्राकृतिक पात्रता राय के लिए न केवल गैर व्यावसायिकों के मामले में बल्कि व्यावसायिकों के मामले में भी बहुत महत्वपूर्ण थी। अभिनेता में, वास्तविक जीवन में, चित्रित किये जाने वाले पात्र के कुछ मूलभूत गुण अवश्य होने चाहिए। अभिनेता के प्राकृतिक गुणों के विरुद्ध उससे अभिनय करवाना राय की कार्य योजना में अस्वीकृत था। एक बार, *अभियान* में उन्होंने सौमित्र चटर्जी को दाढ़ी लगाई थी और उनसे (अभिनेता से) उनके अपने सामाजिक वर्ग से एकदम भिन्न चरित्र का अभिनय करवाया था : तथापि उनका प्राकृतिक विचारशील आधार नहीं बदला। यह विचलन जो उन्होंने स्वीकार किया था राय के काम में असामान्य था, और इसने पूर्ण सफल होने के लिए मजदूर वर्ग के चरित्र पर बहुत अधिक मध्यवर्गीय छाप बिठा दी थी। बंगाल के लघु फिल्म उद्योग में उपलब्ध सक्षम अभिनेता और अभिनेत्रियों की संख्या इतनी कम है कि प्राकृतिक अभिनय गुण पर जोर देना उन्हें अत्यधिक सीमाबद्ध करता है। राय बर्गमैन के प्रति अकारण ही ईर्ष्या प्रकट नहीं करते थे, बर्गमैन लिव उल्मान जैसी क्षमतावादी अभिनेत्री को *सीन्स फॉर अ मैरिज* में काम करने के लिए अपनी स्टाक कंपनी के बाहर से बुला सकते थे। राय के अभिनेता और अभिनेत्री अपने वास्तविक जीवन में अपने बारे में कमोबेश वही प्रभाव छोड़ते थे जो वे पर्दे पर छोड़ते थे। सौमित्र चटर्जी, धृतिमान चटर्जी (*प्रतिद्वंद्वी* में) या प्रदीप मुखर्जी (*जन अरण्येर*) सबके सब अपने वास्तविक जीवन में बौद्धिक व्यवसाय से संबंधित होने और मननशील होने का प्रभाव रखते हैं। पर्दे पर वे जिन पात्रों का अभिनय करते हैं वे भी बहुत कुछ उन्हीं जैसे हैं, इससे व्यावसायिक और गैर व्यावसायिक के बीच की खाई बहुत कम हो जाती है, सिवाय इसके कि व्यावसायिक अभिनेता अपने अनुभव के माध्यम से अभिनय में एक विशेष सहजता और अंतर्दृष्टि पैदा कर देते हैं। राय ने स्वयं यह लक्ष्य किया था कि बंग्ला में अभिनेताओं को निर्देश देने के लिए दृश्यों को स्वयं अभिनीत करके दिखाना आसान है : यह काम वे *शतरंज के खिलाड़ी* में नहीं कर सके क्योंकि यह फिल्म उर्दू में थी—अतः उन्हें सिद्ध क्षमतावाले व्यावसायिक अभिनेताओं पर भरोसा करना पड़ा।

आज का अधिकांश अभिनय अधिकाधिक उद्दीपन और भाव प्रदान बनाने से संबंधित हैं—वर्तमान क्षण में एक प्रकार से गहरे और गहरे उतरते जाना। अभिनय में जिसे व्यावसायिकता कहा जाता है उसका अधिकांश किसी भी स्थिति में से भावना की अंतिम बूंद तक निचोड़ लेने में निहित हो गया है, मानो एक पात्र सार्वजनिक रूप से अपनी इस क्षमता को जितना अधिक उजागर करेगा उसका अभिनय उतना ही अच्छा माना जाएगा। यह जितना अधिक होता है उतना ही यह एक घटना के स्थान काल से दूर होता जाता

है। और अन्य घटनाओं के सादृश्य से भी दूर हो जाता है जिसके कारण यह अभिनय असाधारण बन जाता है। यह वर्तमान क्षण पर इतना अधिक जोर देता है मानो यह क्षण हमेशा के लिए बना रहने वाला है। इस तरह यह जीवन के अस्थायित्व के भाव की बजाय जीवन के स्थायित्व का भाव दर्शकों में पैदा करता है। ठीक यही वह अभिनय है, राय जिससे सावधानीपूर्वक बचते हैं, पात्रों के उस रूप से अधिक संबद्ध थे जिसमें वे (पात्र) अपने कारणों के बारे में सोचते हैं, उस समय भी जब वे उस कार्य का अभिनय कर रहे हों। अतः अभिनय शैली की मननशील तर्ज को उन्होंने अपना लिया था।

जहां तक कैमरे का स्थापन, उसके लैंस और कोण के चुनाव का सवाल था तो इससे संबंधित निर्णय हमेशा ही उनके अपने होते थे। प्रायः राय, कभी कभी कैमरामैन की इच्छा के विपरीत उसे सख्ती से निर्देश देते थे और उसे किसी खास बिंदु पर प्रकाश कम करने के लिए बोलते थे क्योंकि वहां प्रकाश अधिक होता था। अक्सर उनके आग्रह के कारण असंभव संभव बन जाता था कि कैमरामैन वही करने लगता था जो उससे कहा जाता था। सुब्रत मित्रा के साथ उन्होंने आंतरिक दृश्यों में दिन के प्रकाश का प्रभाव पैदा करने के लिए तीव्र प्रकाश के प्रयोग की शैली भी विकसित कर ली थी जो प्राकृतिक प्रकाश का विकल्प तैयार कर देती थी। इस शैली से शाट लेने में "स्पीड" की भी समस्या नहीं रहती थी क्योंकि इससे कैमरा स्थापन के साथ प्रकाश में भी मूल परिवर्तन करने की जरूरत नहीं रहती थी। इससे प्रकाश की सहज और प्रभावी निरंतरता बनी रहती थी तथा चेहरों का सौम्य परछाई रहित प्रतिरूपण संभव हो जाता था। *चारुलता* के बाद से कैमरे का अधिकाधिक प्रचालन स्वयं उन्होंने ही करना शुरू कर दिया था। उन्हें टेक के दौरान लैंस के द्वारा देखकर यह सुनिश्चित करना होता था कि कैमरे के आगे क्या हो रहा है। कभी कभी इसकी परिणति प्रचालन की किसी छोटी त्रुटि में होती थी जिसे संपादन के दौरान संभाल लिया जाता था, और यदि मुख्य प्रभाव पर कोई असर नहीं पड़ता था तो उसे बने भी रहने दिया जाता था। तथापि यह मानना पड़ेगा कि छायांकन की दृष्टि से उनकी फिल्मों को जो गुणवत्ता *नायक* (1966) तक सुब्रत मित्रा ने उन्हें प्रदान की वह बाद की फिल्में अर्जित नहीं कर सकीं।

राय का प्रिय लैंस 40 एम एम था जो सामान्य मानवीय दृष्टि के सर्वाधिक अनुकूल होता है। वे अत्यधिक निकटवर्ती शाट और अत्यधिक दीर्घकोण (वाइड ऐंगिल) से बचने की प्रवृत्ति रखते थे, उनके विचार से ये दोनों ही एक प्रकार के उद्दीपक थे, एक एकांत का अतिक्रमण करता हुआ और दूसरा परिप्रेक्ष्य को बनावटी बनाता हुआ।

सैट निर्माण में भी, ठीक उसी तरह जैसे कि कैमरे के साथ, उनके और सैट निर्माता (डिजाइनर) (अधिकांश फिल्मों में बंसी चंद्रगुप्ता) अत्यधिक विस्तृत तालमेल होता था और हर दृष्टि से आपस की समझदारी परिपूर्ण होती थी। उनकी फिल्म के शीर्षकों का आरेखन

ऊपर : *गणशत्रु* : वैज्ञानिक (सौमित्र चटर्जी) अपनी बेटी (ममता शंकर) और पत्नी (रूमा गुहा ठाकुरता) के साथ

नीचे : *गणशत्रु* : शहर के महापौर (धृतिमन चटर्जी) वैज्ञानिक की संदूषित पानी के बारे में खोजों को प्रकाशित करने पर स्थानीय अखबार के संपादक (दीपांकर डे) को बचाने की कोशिश करते हुए

ऊपर : राय *शाखा प्रशाखा* निर्देशित करते हुए

नीचे : *शाखा प्रशाखा* : बिगड़े दिमाग वाला बेटा (सौमित्र चटर्जी) अपने पिता (अनिल बनर्जी) से बातचीत करते हुए

आगंतुक : अतिथि, भतीजी के परिवार (धृतिमन चटर्जी) के एक मित्र द्वारा किये गये अपमान को पीते हुए

स्वयं उनका होता था, और अधिकांश का सुलेखन (कैलीग्राफी) भी उनका होता था। सारा का सारा तकनीकी काम उनकी विस्तृत और विशिष्ट अवधारणा के अधीन ही होता था।

संगीत के प्रति अपने जीवनपर्यंत लगाव के रहते (प्रारंभिक दिनों में प्रमुखतः पश्चिमी संगीत), वे सुप्रसिद्ध संगीतज्ञों—रविशंकर, अली अकबर खान, विलायत खान—द्वारा अपनी फिल्मों में किये गये योगदान को स्वीकार करने में कठिनाई महसूस करने लगे थे। इन संगीतज्ञों के साथ विस्तृत विचार-विमर्श होने तथा उनकी इच्छा पर अपनी इच्छा थोपने के थकाऊ प्रयासों के बावजूद उनकी यह कठिनाई बढ़ती गयी थी। *पाथेर पांचाली* को आज पुनः देखकर इसकी लोक धुनों का और वाद्य पर किये गये इन धुनों के परिवर्तनों का औचित्य प्रभावित करता है, जबकि शास्त्रीय संगीत की बंदिशें मंचीय प्रस्तुतियों का उद्धरण लगती हैं—लोक धुनों की रमणीयता के विपरीत कर्कश। जहां आवश्यक नहीं है वहां संगीत का अतिप्रयोग भी परेशान करता है, ऐसा *अपुर संसार* जैसी उनकी पूर्ण कृति में भी है। *जलसा घर* में विलायत खान के कुछ आरोह कर्णकटु और अकल्पनाशील हैं—फिल्म संगीत की पिष्टोक्तियों जैसे, जो राय के संवेदनशील कानों को असहज लगते होंगे। यहां कोई भी राय के प्रति सहानुभूति रखने के लिए बाध्य हो सकता है, जैसे कि वनराज भाटिया रखते थे। वनराज भाटिया लंबे समय तक अकेले ऐसे पश्चिम प्रशिक्षित शास्त्रीय संगीतकार थे जो भारतीय सिनेमा में, काम कर रहे थे। अपनी फिल्मों के लिए संगीत तैयार करने वाले संगीतकारों के प्रति राय के अधैर्य को वनराज सहानुभूति से देखते थे।

चारुलता में जब उन्होंने संगीत रचना स्वयं करने का निर्णय लिया तो यह उचित सिद्ध हुआ। यह संगीत संरचना स्मरणीयता और उपयुक्तता की दृष्टि से ही नहीं बल्कि संगीत की मितव्यता की दृष्टि से भी उल्लेखनीय रही। प्रायः संगीतकार न केवल अवधारणा की अपनी व्याख्या को निर्देशक पर आरोपित करते हैं बल्कि संगीत के प्रयोग के तरीके और सीमा तक को निर्धारित करते हैं और प्रायः निर्देशक संगीत के बारे में, जितने जानकर न होने पर संगीतकारों के निर्देशों को मानकर संतुष्ट हो जाते हैं। इसके अलावा *चारुलता, अरण्येर दिनरात्रि, जनअरण्य* या *शतरंज के खिलाड़ी* जैसी फिल्म में पश्चिमी शास्त्रीय संगीत के प्रवाह को, यथारूप लाने की बात को, ध्यान में रखकर परिकल्पित किया जाता है। इस प्रकार की अवधारणा को दूसरे व्यक्ति पर हस्तांतरित करने का कार्य, बिना क्षति उठाये नहीं किया जा सकता।

हीरक राजार देशे, गोपी गायने बाघा बायने के बाद की फंतासी फिल्म के लिए राय ने वस्त्र विन्यास के, स्वयं अपने द्वारा चयनित सामग्री आदि सहित तथा प्रत्येक रेखांकन के बाद वाले पृष्ठ पर टंकित, के जिल्दबद्ध संस्करण तैयार कराये थे। राय के लिए रचनात्मकता अविभाज्य थी। वे अपने काम के वैसे ही सर्वसिद्ध कर्ता थे जैसा कि कोई

भी अन्य व्यक्ति हो सकता था। सामूहिक कार्य के लिए पहचाने जाने वाले एक प्रख्यात माध्यम पर मनोग्रस्तता की हद तक एक कार्मिकता आरोपित किये जाने की कुंजी, *पाथेर पांचाली* की शूटिंग के दौरान के एक प्रकरण में तलाशी जा सकती है जिसका वर्णन उन्होंने *अवर फिल्म्स देअर फिल्म्स* के एक लेख में किया है : "उस पहले दिन एक शाट जो मुझे लेना था वह अपने भाई अपु—जो उसकी उपस्थिति से अनभिज्ञ था—को लंबे लहराते नरकुलों के पीछे से देखती हुई लड़की दुर्गा का था। मैंने एक सामान्य लैंस से एक मध्य दर्जे का निकट दृश्यबंध (क्लोजअप) लेने की योजना बनाई थी जिसमें उसे कमर के ऊपर से दिखाना था। उस दिन हमारे साथ एक मित्र था जो व्यावसायिक कैमरामैन था। जब मैं नरकुलों के पीछे खड़ा होकर दुर्गा को यह बता रहा था कि उसे क्या करना है, तभी मेरी उड़ती हुई दृष्टि लैंसों से छेड़छाड़ करते हुए अपने मित्र पर पड़ी, उसने यह किया कि कैमरे से सामान्य लैंस निकाल लिया था और उसके स्थान पर 'लंबी फोकस लैंथ' वाला लैंस लगा दिया था। जब मैं व्यू फाइंडर से देखने के लिए वहां आया तो वह बोला, 'इस लैंस से उसके ऊपर एक नजर डालो।' इससे पहले मैं बहुत कुछ अचल छायांकन (स्टिल फोटोग्राफी) कर चुका था। लेकिन कार्यिटर ब्रेसन के प्रति अपनी अचल निष्ठा के चलते मैंने 'लांग लैंस' के साथ कभी काम नहीं किया था। अब व्यू फाइंडर जो दिखा रहा था वह दुर्गा के चेहरे का एक बड़ा दृश्य बंध (क्लोजअप) था, चेहरा पीछे से धूप में था और हिलते चमकते नरकुलों के बीच से, जिन्हें उसने अपने हाथों से हटा रखा था, झांक रहा था। यह बहुत ही आकर्षक प्रतीत हो रहा था, मैंने अपने मित्र को समयानुकूल सलाह देने के लिए धन्यवाद दिया और वह शाट ले लिया। कुछ दिनों बाद, कटिंग रूम में, यह देखकर मैं दहशत में आ गया था कि इस दृश्य को किसी भी तरह इतने बड़े क्लोजअप की जरूरत नहीं थी। अपने सारे सौंदर्य के बावजूद, या इसके कारण ही यह दृश्यबंध (शाट) अन्य दृश्यबंधों से पूरी तरह अलग हो गया था और इस तरह अपने पूरे दृश्य को ही भ्रष्ट कर दिया था। इसने एक झटके से ही मुझे फिल्म निर्माण के दो मूल पाठ सिखा दिए : (अ) एक शाट केवल तभी खूबसूरत होता है जब वह सही संदर्भ में हो और इसके सही होने का उसके साथ कोई संबंध नहीं है जो आंख को सुंदर प्रतीत होता है, और (ब) विवरण पर किसी भी उस व्यक्ति की सलाह मत मानो जो पूरी फिल्म को अपने दिमाग में उतनी स्पष्टता से न बिठाये हुए हो जितनी कि आप बिठाये हुए हैं।"

इस प्रारंभिक प्रकरण ने सत्यजीत राय को ऐसे लोगों के रचनात्मक सुझावों के प्रति सतर्क कर दिया जो उनके द्वारा निर्मित फिल्मों की विस्तृत परिकल्पना को ठीक से नहीं समझे हुए होते थे। जबकि ये फिल्में संगीत को लेकर भी, एक फुट की शूटिंग से काफी पहले ही, परिकल्पित कर ली गयी थीं।

रचनात्मक होने के लिए फिल्म निर्माण में क्या इतना अधिक स्वकेंद्रित होना वास्तव में जरूरी है? राय में इसकी सीमा कुछ कुछ अहम केंद्रित होने की स्थिति तक है। बहुत से निर्देशक फिल्म निर्माण के बहुत से पक्षों को आमतौर पर विशेषज्ञों के लिए छोड़ देते हैं, अपने विचारों का विकास, निर्माण के चरणों के माध्यम से करते हैं और उन पर केवल सामान्य नियंत्रण रखते हैं, फिर भी अंतकृति (एंडप्रोडक्ट) पर अपना वैयक्तिक प्रभाव बनाये रखते हैं। मैंने जो मामला निजी तौर पर देखा है वह जेम्स आइवरी द्वारा *द गुरु* के निर्देशन का है। आइवरी विशिष्ट प्रतिभावान लोगों के समूह का नेतृत्व कर रहे थे, जितना उनके द्वारा निर्देशित होते थे उतना ही उन्हें निर्देशित करते भी थे। यह इस सीमा तक सही था कि *द गुरु* के सैट पर आकर कोई यह सोच सकता था कि कैमरामैन सुब्रत मित्रा ही निर्देशक हैं। जिस तरह से वे, कैमरा सैटअप की तो बात ही क्या करना, अभिनेताओं और उनके कार्य व्यापार को नियंत्रित करते थे उससे उनके ही निर्देशक होने का आभास होता था। आइवरी का इस दौरान अपनी फिल्मों पर, स्वयं अपना प्रभाव शूटिंग से पहले और बाद में प्रमुखतः कुछ विशिष्ट रचनात्मक निर्देशों और प्रारंभिक संपादन के रूप में हुआ करता था। वे फिल्मांकन और संपादन के बीच की प्रक्रियाओं में उत्कृष्ट निजी संलिप्तता नहीं रखते थे। बहुत से यूरोपीय निर्देशक, उदाहरण के लिए रेनाइस मुश्किल से ही लैंस में से देखते हैं, वे फोटोग्राफी निर्देशक को अपनी जरूरतों की मोटी-रूपरेखा बताकर ही संतुष्ट हो लेते हैं। स्वयं ज्यां रेनेवां भी स्वयं अपने हर शाट या वस्त्र सज्जा के वैसे विस्तार में नहीं जाते थे, जैसे कि राय जाते थे। शायद राय की यह शैली उनके अकेले व्यक्तित्व में अनेक तरह की प्रतिभाओं के सम्मिश्रण के कारण थी, शायद जिस विशेष प्रकार की फिल्म राय बनाते थे उसके लिए उन जैसा एकमन निर्देशन ही अपेक्षित था। *चारुलता* जैसी श्रेष्ठ फिल्म, उदाहरण के लिए, जिसमें हर संचलन इतना नाजुक, इतनी सुकुमारता से निर्धारित और संगीतात्मक सटीकता से परकल्पित है कि छोटा सा विचलन भी समूचे प्रभाव को छितरा सकता था। यदि विवरण के प्रति वैसी ही सतर्कता, एकाग्रता *महापुरुष* जैसी फिल्म में व्यर्थ होती हुई प्रतीत होती है तो इसका कारण यह है कि काम की एकाकी शैली राय की प्रकृति का हिस्सा बन चुकी थी।

राय की शैली का एक उल्लेखनीय तत्व, मुख्यतः उनकी प्रारंभिक फिल्में हैं, हाथ के सीमित काम के बाहर जीवन के प्रवाह के प्रति निरंतर जागरूकता है। हरिहर मर रहा है : सूर्योदय के समय अपु नदी में से पवित्र जल लेने के लिए जा रहा है। नदी किनारे व्यायाम करते पहलवानों का इस दृश्य के साथ सीधा कोई संबंध नहीं है, सिवाय इसके कि यह हमें एक व्यक्ति के सुख-दुख से तटस्थ जीवन के अदम्य प्रवाह की स्मृति कराता है। सर्वजया की मृत्यु की शाम तालाब के शांत पानी में प्रतिबिंबित तारे ब्रह्मांड की गति का संकेत करते हैं जो पृथ्वी ग्रह के एक गांव में अपने पुत्र के लिए व्याकुल

औरत के प्रति भावहीन हैं।

यह शैली राय की फिल्मों की धीमी गति से निकटता से जुड़ी हुई है, पुनः मुख्यतः प्रारंभिक फिल्मों से, जिसे विदेशों के कुछ दर्शक असह्य पाते हैं। राय की फिल्में उनके जीवन की लय से मेल नहीं खातीं, अधिकांश भारत के शहरों में हमारे जीवन की लय से भी मेल नहीं खातीं, वे दर्शकों पर अपनी स्वयं की लय आरोपित करती हैं। अनेक श्रेष्ठ साहित्यिक कृतियों की तरह उनमें जल्दबाजी नहीं है, मध्यवर्गीय शहरी जीवन से एक व्यक्ति उठा लिया जाता है। उस जीवन की लय के आगे जिसे अधिकांश लोग जी रहे हैं और जो लय सैकड़ों वर्षों से बनी हुई है, वह समर्पण कर देता है। लोगों के जीवन की इस लय के साथ पहचान कायम करना ही महत्वपूर्ण है : राय की अधिकांश फिल्मों में विशेष रूप से ग्रामीण या काल विशेष से संबंधित फिल्मों में, भारतीय यथार्थ की एक गहरी दृष्टि उजागर होती है, यह यथार्थ उससे भिन्न और गहरा है जिससे हम भारत में आधुनिकता के अपने टापुओं के रूप में अभ्यस्त हो गये हैं। इतालवी फिल्म निर्माता एंटोनिओनी की धीमी गति बहुत भिन्न है। एंटोनिओनी ऐसी प्रतिक्रिया की मांग करता है जो आज की पश्चिमी जीवन शैली के लिए स्वाभाविक नहीं है, और इस तरह आंतरिक तनाव पैदा कर देता है। एंटोनिओनी अपने आसपास के समाज से कटकर खड़े हुए एक अकेले व्यक्ति के जीवन की एक विशेष लय के साथ अपने दर्शकों को तादात्म्य में बिठाने की कोशिश करता है, यानी बहुवर्ग को आकर्षित किया जाता है कि वह लघु वर्ग को समझे। राय की शैली इसके एकदम विपरीत है, यह शहर पोषित अल्पवर्ग के व्यक्तियों को लुभाने को कहता है कि वे ग्रामीण लोगों या एक लंबे परंपराबद्ध जीवन प्रवाह में फंसे लोगों की जीवन शैली की मंद धड़कनों को सुनने का समय निकालें।

राय की फिल्मों के पात्र एक ऐसी नदी के प्रवाह में फंसे होते हैं जिसमें एक व्यापक शक्ति उन्हें उनकी नियति की ओर बहाये लिए जाती है और एक बड़ी हद तक उनके अपने प्रयास काम नहीं आते। चारु एक अदृश्य शक्ति द्वारा जिसे वह स्वयं नहीं पहचानती, एक प्रकार के लयात्मक प्रवाह में खींच ले जाती है। अंतिम झूला दृश्य में, झूले की मंथर गति को ध्यान में लाइए जहां कैमरा जमीन पर घूमता है, कागज के भुसे हुए टुकड़ों को दिखाता है जो मृत पत्तियों के बीच उनके लेखन के अस्वीकृत प्रयासों के प्रतीक हैं। कैमरा चारु की बांह से होता हुआ उसके चेहरे तक पहुंचता है, एक के बाद एक प्रतिछायांकन होता है, आंखों की ज्योति जलते सूर्य जैसी प्रतीत होती है : नाव धीमे से फ्रेम के नीचे की ओर ढलती है, चारु के चेहरे की पार्श्वगति के विरुद्ध जब वह धीरे धीरे पींग लेती है, चरक नर्तकियां आगे-पीछे कदम ताल भरती हैं। यहां संचलन की परिकल्पना अपने मन में घुमड़ते सोच के दौरान उसके झूलने की निरंतरता बनाये रखती है, बल्कि उस प्रक्रिया की लय के समांतर भी चलती है जिसके माध्यम से वह एक निश्चित सोच पर पहुंचती

है कि उसे क्या लिखना है। इस तरह के दृश्यों में ही हम राय की लय संबंधी सिद्धहस्तता देख पाते हैं। यह लय ठीक "एक्शन" से पैदा होती है और बिना शब्दों की सहायता से इसका सटीक अर्थ भी अभिव्यक्त कर देती है। यहां यह स्मृत करना रोचक है कि स्वयं राय ने, मुझे लिखे एक पत्र में, अपनी फिल्मों की तुलना पीअर बोनार्ड की पेंटिंग से की थी, "जहां मानवीय आकृति कुर्सी, फल, फूल, भूखंड या दरवाजे से अधिक महत्व नहीं रखती।"

प्रतिद्वंद्वी और *जनअरण्य* जैसी फिल्मों में गति कहीं अधिक तेज है। प्रवाह का भाव कम मुखर है लेकिन "एक्शन" में बना रहता है। लय धीमी न होने के बावजूद भंग नहीं होती, यह सारे पात्रों और उनके कार्य व्यापार (एक्शन) को संगीतात्मक सटीकता के साथ अंतर्निहित किये रहती है। उनकी सारी फिल्में, *शतरंज के खिलाड़ी* के संभावित अपवाद को छोड़कर संरचनागत पूर्णता लिये हुए हैं। परत-दर-परत निर्मित यह संरचना कभी कभी अतिसामान्य विषयवस्तु को भी उबार लेती है, जैसे कि *नायक* में, और इसमें एक बाध्यकारी रोचकता उत्पन्न कर देती है। *जनअरण्य* का प्रारंभ बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के विवरण दर विवरण खड़े करने से होता है: लेकिन जिस क्षण सोमनाथ केले के छिलके पर फिसलता है उसी क्षण से गति शुरू हो जाती है—परिचय समाप्त हो जाता है—और जैसे ही यह कसी हुई नाटकीयता की ओर बढ़ती है सारे पूर्व विवरण गतिशील हो उठते हैं, कार्य व्यापार की संरचना को केंद्र में बनाये रखते हैं। धीमी गति राय के "मूक पर्यवेक्षक" दृष्टिकोण का भी परिणाम है। वे चाहते हैं कि हम घटनाओं को अपनी आंखों के आगे घटता हुआ देखें और अपने निष्कर्ष स्वयं निकालें। निश्चय ही, यह एक तकनीक है, और हमें चालाकी से भरोसे में लिया जाता है : लेकिन यह तकनीक मौन की मनःस्थिति को भी संप्रेषित करती है। क्योंकि शब्द एक बड़ी भूमिका नहीं निभाते इसकी अभिव्यक्ति उसके हाव-भाव द्वारा होनी चाहिए। मानसिक घटनाओं का यह संप्रेषण सिनेमा में सबसे कठिन होता है क्योंकि सिनेमा यथार्थ के केवल बाह्य रूप को ही पकड़ता है : और यहीं पर राय निर्विवाद रूप से विशेषज्ञ हैं।

वस्तुतः पात्र के विचारों को मौन रूप से संप्रेषित करने की प्रक्रिया समय लेती है। अपु, अपर्णा की मृत्यु के बाद शीशे के सामने खड़ा होता है और अपनी बढ़ी हुई दाढ़ी वाली छवि को अरुचि के साथ घूरता है। रेलगाड़ी की परिचित आवाज एक अपशकुनकारी प्रभाव ग्रहण कर लेती है और हमें रेल की पटरी तथा आत्महत्या के आसन्न प्रयास के दृश्य के लिए तैयार कर देती है। राय के काम में इस प्रकृति के अनगिनत उदाहरण मौजूद हैं जहां बाह्य टिप्पणी को नकारे जाने से समय तत्व बढ़ जाता है और प्रत्येक संचलन या ध्वनि को सटीक मनोवैज्ञानिक अर्थ प्रदान करता है और दृश्य को शीशे जैसा पारदर्शी बना देता है। इस प्रकार की सघन और जटिल बुनावट के लिए धीमा संचलन (मूवमेंट) अपरिहार्य

तत्व बन जाता है। उनकी सर्वश्रेष्ठ फिल्मों में गति इतनी अधिक धीमी नहीं है कि प्रत्येक भाव को हम पूरी तरह ग्रहण कर सकें। उनकी फिल्मों को बार बार देखना अपने आप में फलदायी होता है क्योंकि हर बार नये पहलू उजागर होने लगते हैं लेकिन पूर्ववर्ती फिल्मों में लगभग सभी पात्र धीमी गति करते हैं, कभी कभी रूढ़बद्ध ढंग से। अमूल समाप्ति में अपने बिस्तर से पत्र उठाता है जो बहुत ही साधारण क्रिया है लेकिन यह क्रिया वह असंभव रूप से धीमी गति से करता है, मानो वह डायनामाइट छूने जा रहा हो। ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे सभी चरित्रों के लिए गति का एक सुनिश्चित पैमाना स्थिर कर दिया गया हो। स्थिर संचलन की अपेक्षा झटकेदार संचलन अधिक स्वाभाविक हो सकता था लेकिन अभिनेता को उस तरह से तैयार नहीं किया गया होगा, इसके विपरीत *अरण्येर दिनरात्रि* जैसी फिल्म में प्रत्येक पात्र अपनी स्वयं की लय से गति करता है। कुलीन तत्व, विचारवान लोग—जिनका प्रतिनिधित्व सौमित्र चटर्जी और शुभेन्द्र चटर्जी करते हैं—धीमी गति करते हैं, क्रियाशील व्यक्ति, शामित भंज द्वारा अभिनीत, अपनी स्वयं की द्रुत रफ्तार से चलते हैं : हास्य चरित्र, रवि घोष द्वारा अभिनीत बेचैनी से संचलन करते हैं, शायद अपने आत्मसंशय को छिपाने के लिए। फिल्म स्वयं में आत्मविश्वासपूर्ण और जल्दबाजी रहित ढंग से गति करती है—निर्धारित मार्ग की अपरिहार्यता में सुरक्षित। *जनअरण्य* के कुछ हिस्से वास्तव में बहुत तेज गति से चलते हैं, जहां इनमें हाथ से लिये शाटों का प्रयोग किया गया है और पतली गतियों के दृश्यों को हिलती कारों से लिया गया है, लेकिन सोमनाथ अपने आत्मनिरीक्षण के साथ, अन्य पात्रों की तुलना में धीमी गति से संचलन करता है। इस तरह फिल्म की लय कुल मिलाकर सम, अविचलित तथा सुनिश्चित गंतव्य की ओर बनी रहती है। जहां भी लय तेज होती है वहां भी यह अगोचर बनी रहती है। राय की फिल्में प्रत्यक्षतः लंबी नहीं हैं और प्रायः अधिकांश उन्हीं में घटित होता हुआ प्रतीत होता है। फिर भी उनमें कभी भी जल्दबाजी का भाव दिखाई नहीं देता, इस खूबसूरत संरचनात्मक लय के कारण।

इस संरचनात्मक गुण का एक रोचक पहलू राय का प्रत्यक्ष को, कभी कभी इस प्रत्यक्ष के विस्तार को महत्व देना है, क्योंकि वे सतह से परत-दर-परत निर्माण करते हैं, इसलिए वे सावधान रहते हैं कि उसकी उपेक्षा न हो जो उनके दर्शक समुदाय के कुछ हिस्सों को प्रत्यक्ष प्रतीत हो सकता हो। *कंचनजंघा* में राय बहादुर द्वारा ब्रिटिश की प्रशंसा अगोचर नहीं है, इसे पर्याप्त रूप से स्पष्ट आवश्यकता से कहीं अधिक ही स्पष्ट बनाया गया है। *पारस पत्थर में,* पत्थर प्राप्त करने से पूर्व एक क्लर्क के जीवन की स्थितियों को स्थापित करने में पर्याप्त समय व्यतीत किया गया है। *महानगर* में आरती के कार्यों का विवरण प्रदान करने में। *अरण्येर दिनरात्रि* में मित्रों द्वारा सरकारी बंगलों को प्राप्त किये जाने के वास्तविक तरीकों को (बंगले का उन्होंने पूर्व आरक्षण नहीं करवाया है) पर्याप्त समय दिया

है। *सीमाबद्ध* में, और *शतरंज के खिलाड़ी* में तथ्यों को स्थापित करने के लिए इतिवृत्तात्मक तरीके अपनाये गये हैं। ऋत्विक घटक की महत्वपूर्ण फिल्म *अजांत्रिक* में आदिवासी अचानक ही और अपेक्षाकृत निर्द्वंद्विता से, फिल्म के उतरार्ध में पर्दे पर उभरते हैं। राय ने इस प्रकार की स्थिति को कभी भी चित्रित नहीं किया होता : उन्होंने इन आदिवासियों को फिल्म की शुरुआत में ही कहीं सायास परिचित करवाया होता, ताकि वे जब बाद में प्रकट हों तो हम सूत्र को आसानी से पकड़ सकें।

कभी कभी प्रत्यक्ष के प्रति यह लगाव अनावश्यक अतिशयोक्ति और प्रतीकवाद में परिणत हो जाता है। *जलसा घर* में महिम, भद्दा पूंजीपति सुंघनी लेता है और अपनी आंखें मौन—फिल्म-शैली में अतिरंजित ढंग से चलाता है। अलमारी में उल्टे रखे नाव के माडल और नाव दुर्घटना में जमींदार की पत्नी और पुत्र की मौत की खबर आने से पहले शराब के गिलास में छटपटाते हुए कीड़े के प्रति समान रूप से मूक फिल्म-शैली के अंग लगते हैं, और वे अनावश्यक रूप से भारी प्रतीत होते हैं। दूसरी ओर, शराब के गिलास में प्रतिबिंबित फानूस बहुत सुंदर प्रतीत होता है, यह मात्र प्रतीक नहीं है—यह अत्यधिक प्रासंगिक प्रतिबिंबित में चाक्षुष आनंद की एक अभिव्यक्ति है। *अरण्येर दिनरात्रि* में जब शर्मिला समय की मंद गति की ओर संकेत करती है तो उसे मुट्ठी भर बालू अपनी उंगलियों के बीच से छाननी पड़ती है इसमें उसके अकेलेपन का संकेत छिपा हुआ है। प्रत्यक्ष के प्रति राय का लगाव जितना नायक के स्वप्न दृश्य में दिखाई देता है उतना अन्यत्र नहीं। स्वप्न वे स्वप्न हैं जो लाखों फिल्म दर्शकों की कल्पनाओं में उतरे रहते हैं। दरअसल वे उस व्यक्ति के स्वप्न नहीं हैं जो फिल्म अभिनेता है, ये वे स्वप्न हैं जो लोगों के विचार में अभिनेता को देखने चाहिए।

अपने बदतरीन रूप में प्रत्यक्ष के प्रति राय का लगाव उन्हें तुच्छता की ओर खिसका देता है; अपने श्रेष्ठतम रूप में यह उनकी संरचना को एकरूप, स्पष्टता और शक्ति प्रदान करता है जो फिल्मों के अंत को अत्यधिक विश्वसनीय बना देता है।

शायद क्योंकि वहां पात्रों और घटनाओं का स्वयं उनसे बड़ी शक्तियों द्वारा समय की धारा के साथ प्रवाहित होते जाने का बोध हमेशा बना रहता है इसलिए पूर्व दृश्य (फ्लैश बैक) राय की मानक तकनीक के हिस्से नहीं हैं। जहां भी वे आते हैं, मुश्किल से ही वहीं पूर्णतः सुखद होते हैं—*कापुरुष, नायक* और *प्रतिद्वंद्वी* का उदाहरण दिया जा सकता है। राय प्रत्यक्ष इतिवृत्तात्मक क्रम को अधिक पसंद करते हैं जिसमें अंतर्संबंधित पात्र और घटनाएं एक समयानुक्रम में प्रवाहित होते हैं।

शायद उस समय भी जब एक समयानुक्रम स्पष्ट होता है और इसमें से उबरने वाले सभी सवालों का समाधान स्क्रिप्ट के स्तर पर लिया गया होता है। मन्तव्यों का विश्लेषण कर लिया गया है, फिल्मांकन योजना को स्पष्ट ढंग से परिकल्पित किया गया है, अतः

बाद के निर्णयों के लिए कोई वैकल्पिक गुंजाइश रखने की जरूरत नहीं रहती। दुनिया भर के बहुत से फिल्म निर्देशक सारे दृश्यों को फिल्मा लेते हैं और वे अंत संपादन में उन सभी का प्रयोग नहीं करते। राय ने यह काम एक बार किया था—*पाथेर पांचाली* में। सर्वजया को, हरिहर की अनुपस्थिति के कठिन दिनों में फानूस का एक टुकड़ा मिलता है जिसे कोई हीरा बता देता है, उसे भरोसा नहीं होता, लेकिन बाद में वह छुपकर उसे जौहरी के पास ले जाती है। जौहरी बताता है कि वह सचमुच एक कांच का टुकड़ा है, इस दृश्य का कुछ अंश फिल्मा दिया गया था लेकिन धनाभाव के कारण इसे पूरा नहीं किया जा सका। बंग्ला फिल्म निर्माण में वित्तीय सीमाएं ऐसी हैं कि चंद लोग ही संपूर्ण दृश्यों को लेकर अपने विकल्प बनाए रख सकते हैं। राय के मामले में यह बात कुछ सीमा तक शाट पर भी लागू होती है, केवल वित्तीय कारणों से नहीं बल्कि फिल्म के विस्तृत परिकल्पन के कारण। उनकी स्क्रिप्ट पांडुलिपियों में—जो जिल्दबद्ध और सुरक्षित हैं—कैमरा स्थापन के अनेक रेखाचित्र और फिल्म स्थितियों के प्रत्येक पहलू पर टिप्पणियां मौजूद हैं।

कंचनजंघा के लिए कुहरेदार, उजले और बादल वाले मौसम में शाट के लिए क्षेत्रों के नक्शे तैयार किये थे। *सोनार केल्ला* के लिए उन्होंने यात्रा और संचलन के रंगीन चार्ट स्वयं तैयार किये थे। प्रायः वे यह भविष्यवाणी करते थे कि वे अब तीन महीने छह दिन बाद क्या करेंगे। निश्चय ही संशोधन की गुंजाइश रखी जाती थी, इसलिए नहीं कि फिल्म के किसी खास भाग से संबंधित विचार उनको स्पष्ट नहीं थे बल्कि इसलिए कि स्थानीय परिस्थितियां तात्कालिक परिवर्तनों की मांग करती थीं। वे कहा करते थे कि फिल्म के प्रमुख दृश्यों की परिकल्पना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि फिल्म के सभी भाग समान रूप से महत्वपूर्ण होते हैं, और उनकी परिकल्पना स्पष्ट तौर पर होनी चाहिए। वे प्रायः संवादों और अभिनयगत टिप्पणियों, या कैमरा स्थापना संबंधी रेखाचित्रों के साथ साथ संगीत संबंधी विचार भी लिख लेते थे, ध्वनि प्रभाव के बारे में तो लिखते ही थे जिसे प्रायः रिकार्ड करते थे।

राय मात्र सूचना देने के लिए ही संवादों का प्रयोग कभी कभी करते थे, उनके अंतिम चरण—विशेष रूप से *गणशत्रु* और *शाखा प्रशाखा*—से पहले जो एकमात्र उदाहरण मुझे याद आता है वह *अभियान* के प्रारंभ का है जहां यह संवाद विधि बहुत ही पारदर्शी थी। चरित्र खड़ा करने की चाक्षुष विधि के बावजूद दर्पण में प्रतिबिंबित नरसिंह की छवि को संबोधित उनकी प्रारंभिक लंबी टिप्पणियां हुई हैं और यह विधि उबाऊ सिद्ध होती है। उनकी अधिकांश फिल्मों में संवाद कुल वातावरण के अंश के रूप में अभिव्यक्त होते हैं : संवाद आधे वाक्य का हो सकता है, शेष किसी हावभाव में अंतर्निहित रहता है। यह किसी संबंध को स्थापित करते हुए या उसे आगे बढ़ाते हुए कोई सूचना भी दे सकता है। कभी कभी यह सूचना कहानी के विकास के लिए महत्वपूर्ण नहीं होती बल्कि एक संबंध

को उजागर करने के लिए प्रयुक्त होती है। उदाहरण के लिए वे *अपुर संसार* में अपर्णा का पत्र अपु को खरी-खोटी कहता है क्योंकि उसने आठ दिनों में, आठ के बजाय केवल सात पत्र लिखे थे। राय सिनेमा के संवाद को नाटक या उपन्यास के संवाद से पूरी तरह भिन्न मानते थे और इसे दृश्य की बुनावट और भाव का हिस्सा बनाये बिना समाप्त नहीं करते थे। इस तरह वे, जो कुछ अनकहा रह जाता था उसे भी पर्याप्त वजन दे देते थे। *जनअरण्य* में जब सोमनाथ घर आता है और कहता है, चोर निगाहों से, कि उसे ठेका मिल गया है, तो इसे खुद उसकी उस लंबी छाया से परिभाषित किया गया जो उससे/पहले ही वहां प्रवेश करती है और जो अपराध तथा आत्मधिक्कार के बोध से स्याह है।

राय की फिल्मों में गरिमा प्रायः उस शैली से आती थी जिसमें वे विवादों का स्पर्श करते थे, कार्य निर्णय और घटनाओं से बचते थे। जहां उन्होंने सीधी अभिव्यक्ति का प्रयास किया, परिणाम प्रायः निष्प्रभावी या उबाऊ रहा। दुर्गा की मृत्यु का प्रभाव हरिहर की वापसी पर उसकी स्मृति में से पैदा होता है। इंदर ठाकुर की मृत्यु का पता बच्चों से लगता है। सर्वजया की मृत्यु तब होती है जब अपु वहां नहीं है और इसका मौन संप्रेषण नीम अंधेरे में खड़े वृद्ध चाचा की स्थिति द्वारा होता है। अपर्णा की मृत्यु उस समय होती है जब वह अपु से बहुत दूर है। उसकी मृत्यु पर अपु की प्रतिक्रिया प्रत्यक्ष है लेकिन पूरी तरह विश्वसनीय नहीं। हरिहर की मृत्यु की पीड़ा को वस्तुतः हम देखते हैं, लेकिन बनारस के ऊपर मंडराते बादलों की ओर दृश्य परिवर्तन द्वारा इसे एक दार्शनिक ऊंचाई प्रदान कर दी जाती है। इस दृश्य में पहलवान सुबह सुबह कसरत कर रहे हैं। प्रकाश और संगीत और विश्वनाथ मंदिर में होती हुई आरती के स्वर सुनाई देते हैं, अचानक कबूतर उड़ते दिखाई देते हैं, यहां बनारस की अनंतता का बोध होता है। जब अपु अपनी मां की बीमारी की बात सुनकर मानसकोटा लौटना है तो वह तालाब में प्रतिबिंबित मृग को देखता है। जब मकान मालिक अपु से किराया मांगने आता है तो वह पूछता है, "अपूर्व बाबू, महीने का यह कौन-सा दिन है?" वह अपना किराया चाहता है लेकिन साथ ही इस सुदर्शन युवा ब्राह्मण को जो, इतना कठिन अध्ययन कर रहा है और अपना खाना स्वयं पकाता है, अपमानित भी नहीं करना चाहता। अपु पुलु के अनुरोधों को ठुकरा देता है लेकिन बाद में अपर्णा से शादी करने की जल्दी करता है, जब पुलु उससे अपने बेटे की देखभाल के लिए कहता है तो वह इनकार कर देता है लेकिन बाद में हम उसे घर लौटता हुआ पाते हैं। *देवी* में, संयोजन की औपचारिकता और वह फासला, जिसे बनाकर उमा प्रसाद अपने पिता से बातचीत करता है, विवाद की उग्रता को कम कर देते हैं। *जलसा घर* में सामंती जमींदार और पूंजीपति के बीच विवाद, सांध्यकालीन संगीत गोष्ठियों के रूप में सामने आता है। विश्वंभर राय की पत्नी की मृत्यु पर्दे के परे होती है : पुत्र का शव अपेक्षाकृत अचानक लाया जाता है और यह प्रत्यक्षता संदर्भ की दृष्टि से असंबद्ध प्रतीत होती है। *महानगर* में अंत में घटनाओं

और संयोगों का तांता समान रूप से कुछ कुछ उबाऊ हो गया है। *चारुलता* में प्रेम की उत्कृष्टता को प्रेमी-प्रेमिका द्वारा एक दूसरे के हाथ में हाथ लिये बिना ही अभिव्यक्त किया गया है। केवल एक आवेगमय आलिंगन दिखाया गया है जो प्रत्यक्ष पारिवारिक प्रेम से ढका हुआ है, लेकिन यह उन दोनों के बीच तनाव में एक संक्षिप्त सा योगदान करता है। *अरण्येर दिनरात्रि* में बांधने वाला स्मृति खेल, टहल, कथावस्तु की अंतःप्रक्रिया और पुनरावृत्ति आदि को साथ लें तो एक संगीतात्मक वक्तव्य रचता है जिसमें फुसलाने वाले दृश्य मात्र अतिरंजित हैं, वे जहां हिंसा का स्पर्श है वहां भी कटु नहीं होते। कहानी और चरित्र विकास की सौम्य प्रकृति के कारण जहां "हरेक के पास अपना विवेक है, अत्यधिक प्रत्यक्षता में अचानक छलांग, जैसी कि *अशनि संकेत* में आधे झुलसे चेहरे वाले व्यक्ति के परिचय में है, उबाऊ हो जाती है। *जनअरण्य* के त्रासद अनुभव में भी हमारी सहानुभूति सोमनाथ के साथ होती है : यह ऐसा है मानो हम स्वयं अपने आप से कह रह हों : वह और क्या कर सकता है, यह तो दुनिया है जिसमें हम रहते हैं। सोमनाथ और उसका "जनसंपर्क" साथी अपने मुवक्किल के लिए लड़की तलाशते हैं लेकिन वे स्वयं उस लड़की पर नजर भी नहीं डालते। उसके व्यापारिक साथी उसके प्रति उदार हैं और उसकी मदद करना चाहते हैं। अपनी पतनशीलता में भी वे मानवीयता रहित नहीं हैं।

वर्णनात्मक भ्रांति को राय अपनी फिल्मों का आधार मानते थे और इसी से उनकी फिल्मी तकनीक निर्धारित होती थी। तकनीक, एक महत्वपूर्ण लक्ष्य यह होता था कि भ्रांति किसी अचानक परिवर्तन या अतिक्रमण से बाधित न हो, जिससे कि दर्शक सतर्क न हो जाए और यह महसूस न करे कि वे एक फिल्म देख रहे हैं। उनके उपमाओं के प्रयोग से यह बात स्पष्ट होती है कि *अपराजितो* में हरिहर की मृत्यु की तुलना एक पक्षी की उड़ान से की गई है—भारत में और एक लोकप्रिय उपमा—लेकिन यह दृश्यांतर इस तरीके से किया गया है कि पक्षियों की उड़ान का यह दृश्य वैसा बौद्धिक वक्तव्य नहीं लगे जैसा कि "आइसेंस आइन" के मूक सिनेमा में होता था। "पोटमकिन" में उदाहरण के लिए तीन तक्षित शेरों का प्रयोग—लेटा हुआ, बैठा हुआ, और खड़ा हुआ। विद्रोहियों के विरुद्ध कार्रवाई करने के लिए जागृत शाही शक्ति के प्रतीक के रूप में किया गया है, शेरों की प्रतिमाएं अचानक दिखाई जाती हैं, यह एक साहित्यिक दृष्टि है। दूसरी ओर, राय अपने कबूतरों को काफी पहले ही स्थापित कर देते हैं—वह विशेष स्थान जहां वे इकट्ठे होते और उड़ते हैं—ताकि वे उनकी फड़फड़ाहट और दूर पर उनकी उड़ान को देखते हैं तो यह अनुभूति नहीं होती कि हमें अचानक ही बौद्धिक साहित्यिक किस्म के वक्तव्य के सामने खड़ा कर दिया गया है। यह उस घटना के हमारे अनुभव का एक हिस्सा बन जाता है, ठीक उस तरह जैसे कि हम वास्तविक जीवन में प्रासंगिक को अप्रासंगिक के साथ मिश्रित होता हुआ देखते हैं : लेकिन मन में इसकी एक जटिल गूंज बनी रहती है। दार्शनिक और भावनात्मक दोनों

ही तत्व एक साथ उस अनुभव में विलय हो जाते हैं, जिसमें से ये उत्पन्न होते हैं। *जनअरण्य* में वह गीत, "जंगल के ऊपर छायाएं घिर रही हैं" उपमा के माध्यम से टिप्पणी करता है, जहां शहर की तुलना जंगल से की गयी है, तथा शहर के भ्रष्टाचार और बुराइयों की तुलना इसके ऊपर घिरती छायाओं से की गयी है। मगर यहां इस बात का ध्यान रखा गया है कि यह वर्णनात्मक प्रवाह में घुलमिल जाये और अलग से अपनी ओर ध्यान आकर्षित न करे।

शतरंज के खिलाड़ी शायद एकमात्र फिल्म है जो वर्णनात्मक शैली से बाहर निकल आती है, इसमें वृत्तचित्रात्मक और कथात्मक दोनों का ही मिश्रण है और यह सीधे बौद्धिक क्षमता को संबोधित करती है। हालांकि सीमाबद्ध में भी वृत्तचित्रात्मकता है, फिर भी यह वर्णन का ही एक हिस्सा लगती है, यह स्थिति *शतरंज के खिलाड़ी* की कथ्य सचेत रूपांतरण की स्थिति से एकदम विपरीत है।

राय का संगीत प्रयोग उनकी फिल्म की स्वाभाविक बाह्य संरचना से बड़ी हद तक जुड़ा रहता था। पुनः यहां संगीत को स्वयं में जहां तक संभव हो, अल्प और अगोचर बनाने का प्रयास रहता था, विशेष रूप से उन फिल्मों में, जिनकी स्वर लिपि स्वयं उन्होंने तैयार की थी। *चारुलता* में धुनों की (प्रमुखतः मुख्य धुन जो शीर्षकों के साथ आती है) स्मरणीयता और दर्शकों को संगीत के प्रति अति सतर्क न होने देने की आवश्यकता दोनों का ही सफलता से निर्वाह किया गया है। एंटोनिओनी की तरह राय संगीत को कम से कम प्रयुक्त करने और इसे, जहां तक संभव हो, विशेष रूप से पहले प्रयोग में, किसी परिचित स्रोत से फूटता हुआ दिखाने के प्रति सचेत प्रतीत होते हैं। उनकी प्रारंभिक फिल्मों में संगीत का प्रयोग बाद की फिल्मों की तुलना में बहुत अधिक और मुखर है। दूसरों के द्वारा संगीतबद्ध की गई प्रारंभिक फिल्मों में भी राय का हाथ इंदिरा ठाकरन द्वारा लोक धुन के गायन में स्पष्ट दिखाई देता है, और बाद में, यह *पाथेर पांचाली* में, इसमें वादन और रूपांतरण में दिखाई देता है। *चारुलता* में गीत, 'आभि चिनी गो चिनी तोमारे ओगो विदेशीनि' (मैं तुम्हें जानता हूं ओ, विदेशी धरती से आई औरत) अमल द्वारा गाया जाता है और बाद में इसव. वादन रूपांतरण पृष्ठभूमि में प्रयुक्त किया जाता है। दूसरी महत्वपूर्ण स्वर रचना टैगोर के गाली दर्शकों में अत्यधिक लोकप्रिय गीत पर आधारित है: *ममो चीत्ते निति नृत्ये, के जे बाजे, ता-ता थोई-थोई* हालांकि यह गाया नहीं जाता, लेकिन बंगाली दर्शक इस वाद्य रचना के पीछे के शब्दों को जानते हैं और *चारुलता* की व्यग्रता से उनके संबंध को आसानी से पहचान सकते हैं।

टैगोर के रागों को वाद्य संगीत में अनयंत्र भी प्रयोग किया गया, जिसे कि *साखी बोए गेलो बेला, शूधू हासि खेला एकि आर भालो लागे।* (दिन ढलने को आ रहा है, खोखली

हंसी मुझे आनंद नहीं देती) के धुन को *देवी* में बार बार प्रयोग किया गया है। इसी तरह *पोस्ट मास्टर* में, *आमार मोन माने ना* (मेरा मन अब अपने आपको और नियंत्रित नहीं रख सकता) गीत की धुन अधिकांश वाद्य संगीत को उपलब्ध करवाती है। धुनों का अपना जीवन होता है और गूंजमयी अनुभूतियां होती हैं, जो बंगाली दर्शकों के लिए, धुनों से जुड़े शब्दों के अर्थ से पूरी तरह अलग नहीं की जा सकती।

अपनी फिल्मों की प्रकृति के स्रोत के रूप में वे बार बार पश्चिमी संगीत की बात करते थे :

> सिनेमा वह माध्यम है जो भारतीय संगीत की तुलना में पश्चिमी संगीत के अधिक निकट है क्योंकि भारतीय परंपरा में अपरिवर्तनीय समय की अवधारणा मौजूद नहीं है—वहां "संयोजन" रचना नहीं है—अवधि परिवर्तनीय है और संगीतकार की मनःस्थिति पर निर्भर करती है।
>
> लेकिन सिनेमा समयबद्ध संयोजन है। यही कारण है कि मैं महसूस करता हूं कि पश्चिमी रूपों की मेरी जानकारी मेरे लिए एक सुविधा के बतौर रही है। एक लाभ यह है कि "सोनाटा का रूपाकार एक नाटकीय रूपाकार है जिसके साथ विकास (डेवलपमेंट), कथ्य और लय की पुनरावृत्ति (रिकेपिटुलेशन), और "कोडा" (एक विशेष संगीत रचना जुड़े हुए हैं) सिंफनी या सोनाटा जैसी संगीत विधाओं ने मेरी फिल्मों की संरचना को काफी प्रभावित किया है। *चारुलता* के लिए मैंने निरंतर मौज़ार्ट के बारे में सोचा था।

स्वर लिपि का स्रोत कुछ भी क्यों न रहा हो, वहां भी जहां यह सुपरिचित रहा है या कुछ स्वायत्तता लिये रहा है, प्रयास यही रहा है कि यह वर्णन में मिश्रित हो जाए। यह दोहराना ठीक रहेगा कि राय की लगभग सभी फिल्मों में वर्णनात्मक भ्रांति की प्रधानता रही है और इस विधि के प्रयोग में इसका सहज और निर्वाद प्रवाह ही प्राथमिक उद्देश्य रहा है। इस पर गौर करना महत्वपूर्ण है कि वर्णन के प्रति यह संलग्नता, जो वस्तुतः राय का समूचा रचनात्मक दृष्टिकोण है, मानव मात्र के प्रति संलग्नता से प्रसूत है—एक बहुत ही भारतीय अभिव्यक्ति में। यहां धार्मिक कला की शर्तों की स्वीकृति भी है—धार्मिक कला यानी वह कला जो किसी दिये हुए आत्मिक लक्ष्य (सामाजिक लक्ष्य) को पूरा करती है। निजी अभिव्यक्ति अनिवार्यतः उस विषयवस्तु की अभिव्यक्ति से जो सामाजिक परिस्थितियों की समझ से तय होती है, नियंत्रित होनी चाहिए। राय का सिनेमा किसी सामाजिक या राजनीतिक विचारधारा से बंधा हुआ नहीं है, यह एक सजग चेतनशील व्यक्ति का सृजन है।

राय स्वयं को एक ऐसा सजग कलाकार मानते थे जो किसी भी अन्य व्यक्ति की

तुलना में बेहतर जानता था कि उसकी फिल्म में क्या जा रहा है। वे ऐसे सुझावों को लेकर कुछ कुछ अधीर हो जाया करते थे कि उनकी फिल्मों में ऐसे तत्व भी हैं जिनके प्रति वे अनभिज्ञ रहे हैं। वे तत्व अवचेतन या अचेतन स्तर पर रहे हैं जो उस चुनाव प्रक्रिया को निर्धारित करते हैं जो सिनेमा के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण होती है। वे फिर भी इस बात को स्वीकार नहीं करते थे कि उन्होंने भारतीय परंपरा से बहुत कुछ प्राप्त किया है। मुझे लिखे एक पत्र में उन्होंने कहा था :

"मैं नहीं मानता कि फिल्म निर्माता के रूप में मेरे विकास में भारतीय कला परंपराओं का कुछ लेना-देना रहा है—मेरा दृढ़ विश्वास है कि सिनेमा पश्चिम की देन है जहां किसी कला रूप के अपने समय में अस्तित्ववान होने की अवधारणा कई शताब्दियों से प्रचलित है। भारतीय कला इस प्रकार की अवधारणा के प्रति जागरूकता प्रदर्शित नहीं करती, यदि मैं फिल्म निर्माता के रूप में सफल हुआ हूं तो इसलिए कि पश्चिमी कला, साहित्य और संगीत की परंपराओं से मेरा परिचय रहा है। इसमें भारतीय जीवन के मेरे अवलोकन को जोड़ा जा सकता है, और यही मेरा नुस्खा है।" (27 सितंबर 1989)

फिर भी राय की आवश्यक भारतीयता समान रूप से निर्विवाद है। इस किताब की भूमिका में मैंने उपनिषदों और उनमें निहित दिक्काल की आध्यात्मिक वैज्ञानिक जानकारी और जीवन के आविर्भाव की नश्वरता के संबंध में राय की जानकारी की चर्चा की है। यही पात्र के प्रति उनकी करुणा का स्रोत है, इसी को पोउलिन कील, उनके सामान्य काम में भी मिथकीय उपस्थिति मानता है जो उनके सिनेमा को ऐसा महत्व प्रदान कर देती है जो विषय से कहीं बहुत आगे बढ़कर स्थापित होता है। उनकी धीमी चिंतनशील लय, पूर्ण रूप से अपश्चिमीय है। यह भारतीय जीवन की पारंपरिक लय के अत्यधिक अनुकूल है। इसके विपरीत एंटोनिओनी की कुछ फिल्मों की धीमी गति सचेत रूप से पश्चिमी जीवन की लय के विरुद्ध चलती है ताकि सामाजिक विलगाव के अवबोधन में आंतरिकता पर जोर दिया जा सके। *अपराजितो* का निर्देशन परंपराओं में अपनी जड़ों के होने के प्रति गहरी जागरूकता रखता है। ये परंपराएं भारत के प्राचीनतम शहर बनारस में उजागर होती हैं। अपर्णा की मृत्यु के बाद अपु के दुख की प्रकृति उमा की मृत्यु के बाद शिव के दुख जैसी है। *पाथेर पांचाली* और *अपराजितो* के मृत्यु दृश्य अपने अपने ढंग से प्रभावशाली थे और प्रत्येक दृश्य ब्रह्म चक्र की अपरिहार्यता को स्वीकार किये जाने का भाव लिए हुए है। जब क्षीणकाय सर्वजया तालाब के किनारे पेड़ के नीचे बैठती है तो जुगनुओं का एक झुंड उसकी आसन्न मृत्यु के भाव को तीव्र करता है। स्याह तालाब में सप्तर्षि का प्रतिबिंब दिखाई देता है, हमें उसकी मृत्यु अनंत आकाश और समय के बीच एक अत्यंत छोटी घटना के रूप में दिखाई जाती है। भारतीय ज्योतिष में सप्तर्षि को काल पुरुष कहा गया है—वह शब्द जिसका अर्थ सार्वकालिक स्वामी से है। व्यापक विस्तार में सप्तर्षि के स्थायित्व और

जुगनुओं की क्षणिक खेल के बीच विरोधाभास हमारे मन पर अनुगूंज बनाये रखता है। हरिहर की मृत्यु से ठीक पहले मंदिर की घंटियां बजने लगती हैं और मृत्यु के ठीक बाद पवित्र नदी के घाटों के ऊपर से कबूतरों का एक झुंड दूर उड़ता हुआ दिखाई देता है। यहां नदी जीवन और मृत्यु के बीच बहने वाली नदी है और कबूतर उस आत्मा के प्रतीक हैं जो शरीर को छोड़कर अनंत में विलीन हो जाती है, इन पारंपरिक भारतीय रूपकों को दृष्टि से ओझल करना असंभव है।

उनकी बाद की नगर त्रयी के नायकों में वही भारतीय चिंतनशीलता मौजूद है, एक भाग्यवादी दृष्टि निश्चित काल, स्थान और समाज के बीच मनुष्य के प्रयासों की सीमाओं का बोध। ये राय की मानसिकता की अंतर्धाराएं हैं जिनके बारे में उन्होंने कभी बात नहीं की और शायद वे उनसे अनभिज्ञ भी थे : फिर भी ये धाराएं स्पष्टतः उनमें मौजूद थीं। भारतीय जीवन के उनके अवलोकन में भारतीय दृष्टि अविभाज्य रूप से मिली हुई थी, बावजूद उनकी फिल्मों के सतही पश्चिमी रूपाकार के।

राय ने जो किया, वह यह था कि उपनिषदों में अभिव्यक्त भारतीय चिंतन और आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टियों को एक साथ एक ऐसे संलेषण में पिरो दिया जो 19वीं शताब्दी के विचारकों और समाज सुधारकों ने विकसित किया था और जिसका चरम टैगोर में है। राय का यह संश्लेषण स्वामी विवेकानंद और महाऋषि अरविंद के वेदांत दर्शन की भी स्मृति कराता है। इस दर्शन ने हिंदुत्व के सुधार और पुनर्मूल्यांकन की वह पृष्ठभूमि तैयार की थी जो 19वीं और 20वीं शताब्दी के शुरुआती दौर में प्रभावी रही। इसमें अगर भारतीय परंपरा का बहिष्कार है तो बाद के हिंदुत्व के काल दोषपूर्ण पहलुओं का भी बहिष्कार है जिसमें मूर्तिपूजा, पशु बलि, मानव बलि तथा शताब्दियों के दौरान विभिन्न प्रकार के अंधविश्वासों में वृद्धि आदि थे : हिंदू दर्शन या आध्यात्मिकता का बहिष्कार नहीं था। *देवी, महापुरुष* या *जय बाबा फेलूनाथ* जैसी फिल्में धर्म के नाम पर की गई समाज विरोधी विकृतियों की आलोचना या उपहास करती हैं। राय की प्रासंगिकता आज उस समय फिर से बढ़ गई है जब धार्मिक कट्टरपंथी 19वीं और प्रारंभिक 20वीं शताब्दी के समाज सुधारों की घड़ी को उलटा घुमाने की कोशिश कर रहे हैं। ताकि वे तथ्य के स्थान पर मिथक को और लोकतंत्र के स्थान पर सर्वसत्तावाद को स्थापित कर सकें।

चुनिंदा संदर्भ-ग्रंथ

पुस्तकें

अमृता शेर-गिल; ए मोनोग्राफ, मार्ग पब्लिकेशंस मुंबई

बनर्जी, रंजन : *बिषय सत्यजीत* (बंग्ला); नवाना पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1989

बोस, नंदलाल : *शिल्पचर्या* (बंग्ला); विश्व-भारती, शांतिनिकेतन

मजूमदार, आर सी (संपा.) : *हिस्ट्री एंड कल्चर आफ द इंडियन पीपुल, वाल्युम X, इंडियन रिनायसेंस,* पार्ट II, भारतीय विद्या भवन, मुंबई

मास्ट, गेराल्ड : *फिल्म/सिनेमा/मूवीस;* हार्पर एंड रो, न्यूयार्क, 1977

मिक्कीओलो, हैनरी : *सत्यजीत राय, एल ऐज डे' होम्मे,* पेरिस, 1982

नाईस, बेन : *सत्यजीत राय, ए स्टडी आफ हिज फिल्म्स,* प्रेयजर, न्यूयार्क, 1988

परीमू रतन : *द थ्री टैगोर्स,* एम एस यूनिवर्सिटी आफ बड़ौदा, 1973

राय, रजत : *चलचित्रेर संधानाय* (बंग्ला), साहित्यश्री, कलकत्ता, 1977

राय, सत्यजीत : *अवर फिल्म्स, देयर फिल्म्स,* ओरियेंट लांगमैन, कलकत्ता, 1976

रेनौर, जीन : *रेनौर,* माय फादर

रोबिन्सन, एंड्रयू : *सत्यजीत राय,* आंद्रे द्यूस, लंदन, 1989

रोड़े, एरीक : *टावर आफ बाबेल,* विडेनफील्ड एंड निकल्सन, लंदन

सेटोन, मेरी : *पोर्ट्रेट आफ ए डायेरक्टर : सत्यजीत राय,* डेनीस रोबसन, लंदन, 1971

वुड, रोबिन : द *अपु ट्रिलोजी,* प्रेयजर, न्यूयार्क, 1977

जर्नल

आनंदम फिल्म सोसायटी : मोन्टेज, स्पेशल इशू आन सत्यजीत राय, मुंबई, जुलाई 1966

दास गुप्ता, चिदानन्द : *राय एंड टैगोर,* इन साईट एंड साउंड, लंदन, विंटर 1966-67

कपूर, गीता : एस्से आन *संत तुकाराम* एंड *देवी* इन इंटरोगेटिंग माडर्निटी, सहगल बुक्स, कलकत्ता, 1993

फिल्म सूची

1955 पाथेर पांचाली (छोटी सड़क का गीत)

निर्माता : पश्चिम बंगाल सरकार, पटकथा : विभूति भूषण बनर्जी के उपन्यास *पाथेर पांचाली* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशन : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : रवि शंकर, ध्वनि : भूपेन घोष। अवधि : 115 मिनट।

कलाकार : कनु बनर्जी *(हरिहर)*, करुणा बनर्जी (सर्वजया); सुबीर बनर्जी *(अपु)*, उमा दास गुप्ता *(दुर्गा)*, चुन्नीबाला देवी *(इंदर ठाकुरान)*, रुनकी बनर्जी *(बालपन में दुर्गा)*, रेवा देवी *(सेजा ठाकुरान)*, अपर्णा देवी *(नीलमणि की पत्नी)*, तुलसी चक्रवर्ती *(प्रसन्ना, विद्यालय का शिक्षक)*, विनय मुखर्जी *(बैद्यनाथ मजूमदार)*, हरेन बनर्जी *(चिनीबास, मिठाई बेचनेवाला)*, हरिमोहन नाग *(डाक्टर)*, हरिधन नाग *(चक्रवर्ती)*, निभानोनी देवी *(दासी)*, क्षिरोध राय *(पुजारी)*, रोमा गांगुली *(रोमा)*।

1956 अपराजितो (जिसे हराया ना जा सके)

निर्माता : एपिक फिल्म्स (सत्यजीत राय), पटकथा : विभूति भूषण बनर्जी के उपन्यास अपराजितो से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता। संगीत : रविशंकर, ध्वनि : दुर्गादास मित्रा, अवधि : 113 मिनट।

कलाकार : कनु बनर्जी *(हरिहर)*, करुणा बनर्जी *(सर्वजया)*, पिनाकी सेन गुप्ता *(बच्चा अपु)*, स्मरण घोषाल *(किशोर अपु)*, शांति गुप्ता *(लाहिड़ी की पत्नी)*, रमणी सेन गुप्ता *(भवतरण)*, रानीबाला *(टेल्ट)*, सुदीप्त राय *(निरुपमा)*, अजय मित्रा *(अनिल)*, चारुप्रकाश घोष *(नंदा)*, सुबोध गांगुली *(हेड मास्टर)*, मोनी श्रीमणी *(निरीक्षक)*, हेमंत चटर्जी *(प्रोफेसर)*, काली बनर्जी *(कथक)*, कालीचरण राय *(अखिल; प्रेस का मालिक)*, कमला अधिकारी *(मोक्षदा)*, लालचंद बनर्जी *(लाहिड़ी)*, के एस पांडे *(पांडे)*, मीनाक्षी देवी *(पांडे की पत्नी)*, अनिल मुखर्जी *(अविनाश)*, हरेन्द्र कुमार चक्रवर्ती *(डाक्टर)*।

1958 **पारस पत्थर (जिसके स्पर्श से लोहा सोना बन जाता है)**

निर्माता : प्रमोद लाहिड़ी, पटकथा : परशुराम की लघुकथा *पारस पाथेर* से सत्यजीत राय द्वारा छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : रविशंकर, ध्वनि : दुर्गादास मित्रा। अवधि : 111 मिनट।

कलाकार : तुलसी चक्रवर्ती *(परेश चंद्र दत्ता)*, रानीबाला *(उसकी पत्नी)*, काली बनर्जी *(प्रियतोष हेनरी विश्वास)*, गंगापद बोस *(कचालू)*, हरिधन *(इंस्पेक्टर चटर्जी)*, जाहर राय *(भजहरी)*, बीरेश्वर सेन *(पुलिस अधिकारी)*, मोनी श्रीमणि *(डा. नंदी)* छवि विश्वास, जाहर गांगुली, पहाड़ी सान्याल, कमल मित्रा, नीतिश मुखर्जी, सुबोध गांगुली, तुलसी लाहिड़ी, अमर मल्लिक *(काकटेल पार्टी के पुरुष मेहमान)*, चंद्रवती देवी, रेनुका राय, भारती देवी *(काकटेल पार्टी में महिला मेहमान)*।

1958 **जलसा घर (संगीत कक्ष)**

निर्माता : सत्यजीत राय प्रोडक्शंस, पटकथा : ताराशंकर बनर्जी की लघु कहानी जलसा घर से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता। संगीत : विलायत खान, बेगम अख्तर और रोशन कुमारी, वाहिद खां, बिस्मिल्ला खां और कंपनी द्वारा पर्दे पर तथा दक्षिणामोहन ठकर, आशीष कुमार, रोबिन मजूमदार और इमरात खां द्वारा संगीत और नृत्य की प्रस्तुति, (पर्दे के पीछे) ध्वनि : दुर्गादास मित्रा। अवधि : 100 मिनट।

कलाकार : छवि विश्वास (विश्वंभर राय), पद्मा देवी *(उनकी पत्नी महामाया)*, पिनाकी सेन गुप्ता *(उनका बेटा बीरेश्वर)*, गंगापद बोस *(माहिम गांगुली)*, तुलसी लाहिड़ी *(तारा प्रसन्न, बेरा)*, काली सरकार *(अनंता, रसोईया)*, वाहिद खां *(उस्ताद उजीर खां)*, रोशन कुमारी *(कृष्णा बाई)*।

1959 **अपुर संसार (अपु का संसार)**

निर्माता : सत्यजीत राय प्रोडक्शंस , पटकथा : विभूति भूषण के उपन्यास *अपराजित* से सत्यजीत राय द्वारा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : रविशंकर, ध्वनि : दुर्गादास मित्रा। अवधि : 106 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी *(अपु)*, शर्मीला टैगोर *(अपर्णा)*, आलोक चक्रवर्ती *(कोयल)*, स्वपना मुखर्जी *(पुलु)*, धीरेश मजुमदार *(शशिनारायण)*, शेफालिका देवी *(शशिनारायण की पत्नी)*, धीरेन घोष *(जमींदार)*।

1960 **देवी**

निर्माता : सत्यजीत राय प्रोडक्शंस, पटकथा : रवीन्द्रनाथ टैगोर की परिकल्पना पर आधारित प्रभात कुमार मुखर्जी की लघुकथा *देवी* से सत्यजीत राय द्वारा,

छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता। संगीत : अली अकबर खां। ध्वनि : दुर्गादास मित्रा। अवधि : 93 मिनट।

कलाकार : छवि विश्वास *(कालीकिंकर राय)*, सौमित्र चटर्जी *(छोटा लड़का, उमा प्रसाद)*, शर्मीला टैगोर *(दयामयी)*, पूर्णेंदु मुखर्जी *(बड़ा लड़का, तारा प्रसाद)*, करुणा बनर्जी *(हरसुंदरी, उसकी पत्नी)*, अपर्णा चौधरी (खोका, बच्चा), अनिल चटर्जी *(भूदेव)*, काली सरकार *(प्रो. सरकार)*, नागेंद्रनाथ काव्यभ्यकरण तीर्थ *(पुजारी)*, शांता देवी *(सरला)*।

1961 तीन कन्या (तीन बेटियां)

निर्माता : सत्यजीत राय प्रोडक्शंस, पटकथा : रवीन्द्रनाथ टैगोर की तीन लघु कहानियों से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : दुर्गादास मित्रा, पोस्टमास्टर, अवधि : 50 मिनट। मनीहारा, 61 मिनट, संपति, 56 मिनट ।

कलाकार : पोस्टमास्टर : अनिल चटर्जी *(नंदलाल)*, चंदन बनर्जी *(रतन)*, नृपति चटर्जी *(विपय)*, खगेन पाठक *(खगेन)*, गोपाल राय *(विलास)*।

मनीहार (गुमा हुआ रत्न)

काली बनर्जी *(फणिभूपण साहा)*, कणिका मजूमदार *(मणिमालिका)*, कुमार राय *(मधुसुदन)*, गोविंदा चक्रवर्ती *(स्कूल मास्टर और प्रस्तुतकर्ता)*।

संपति (निष्कर्ष)

सीता मुखर्जी *(जोगमाया)*, गीता दे *(निस्तारिणी)*, संतोष दत्ता *(किशोरी)*, मिहिर चक्रवर्ती *(राखाल)*, देवी नियोगी *(हरिपद)*।

1961 रवीन्द्रनाथ टैगोर

निर्माता : फिल्म प्रभाग, भारत सरकार, पटकथा और व्याख्या : सत्यजीत राय, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : ज्योतिरिंद्र मोइत्रा, पर्दे के पीछे से गीत और नृत्य की प्रस्तुति : अशेष बनर्जी *(इसराज)* और गीताबितन। अवधि : 54 मिनट।

कलाकार : राया चटर्जी, सोवनलाल गांगुली, स्मरण घोषाल, पूर्णेंदु मुखर्जी, कल्लोल बोस, सुबीर, फर्नी नान, नार्मन इलीस।

1962 कंचनजंघा

निर्माता : एन सी ए प्रोडक्शंस, मूल पटकथा : सत्यजीत राय, छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत

राय, ध्वनि : दुर्गादास मित्रा। अवधि : 120 मिनट।

कलाकार : छवि विश्वास *(इंद्रनाथ राय)*, अनिल चटर्जी *(अनिल)*, करुणा बनर्जी *(लावण्य)*, अनुभा गुप्ता *(अनीमा)*, सुब्रत सेन *(शंकर)*, शिवानी सिंह *(टुकलु)*, अलकनंदा राय *(मनीषा)*, अरुण मुखर्जी *(अशोक)*, एन विश्वनायन *(श्री बनर्जी)* पहाड़ी सान्याल *(जगदीश)*, नीलिमा चटर्जी व विद्या सिन्हा *(अनिल की महिला मित्र)*।

1962 अभिजान (अभियान)

निर्माता : अभिजात्रिक, पटकथा : ताराशंकर बनर्जी के उपन्यास *अभिजान* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय। ध्वनि : दुर्गादास मित्रा, नृपेन पाल, सुजीत सरकार, अवधि : 150 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी *(नरसिंह)*, वहीदा रहमान *(गुलाबी)*, रूमा गुहा ठाकुरता *(नीली)*, गणेश मुखर्जी *(जोसेफ)*, चारुप्रकाश घोष *(सुखनराम)*, रवि घोष *(रामा)*, अरुण राय *(नस्कार)*, शेखर चटर्जी *(रामेश्वर)*, अजीत बनर्जी *(बनर्जी)*, रेवा देवी *(जोसेफ की मां)*, अबार्ना मुखर्जी *(वकील)*।

1963 महानगर

निर्माता : आर डी बी एंड कंपनी (आर डी बंसल)। पटकथा : नरेंद्रनाथ मित्रा की लघुकथा *अबतरनीका* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय। ध्वनि : देवेश घोष, अतुल चटर्जी, सुजीत सरकार, अवधि : 131 मिनट।

कलाकार : अनिल चटर्जी *(सुब्रत मजूमदार)*, माधवी मुखर्जी *(आरती मजूमदार)*, जया भादुड़ी *(वाणी)*, हरेन चटर्जी *(प्रियगोपाल, सुब्रत के पिता)*, शेफालिका देवी *(सरोजिनी, सुब्रत की मां)*, प्रसेनजीत सरकार *(पिंटू)*, हरधन बनर्जी *(हिमांशु मुखर्जी)*, विकी रेडवुड *(एडीथ)*।

1964 चारुलता (एकाकी महिला)

निर्माता : आर डी बी एंड कंपनी (आर डी बंसल)। पटकथा : रवीन्द्रनाथ टैगोर के उपन्यास *नास्तेनीर* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय। ध्वनि : नृपेन पाल, अतुल चटर्जी, सुजीत सरकार, अवधि : 117 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी *(अमल)*, माधवी मुखर्जी *(चारु)*, शैलेन मुखर्जी *(भूपति)*, श्यामल घोषाल *(उमापद)*, गीताली राय *(मंदाकनी)*, भोलानाथ कोयल

(ब्रज), सुकु मुखर्जी *(निशिकांत),* दिलिप बोस *(शशांक),* सुब्रत सेन शर्मा *(मोतीलाल),* जयदेव *(निलतपाल डे),* बंकिम घोष *(जगनाथ)*।

1964 टू (दो)

निर्माता : एस्सो वर्ल्ड थियेटर, मूल पटकथा : सत्यजीत राय, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सुजीत सरकार, अवधि : 15 मिनट।

कलाकार : रवि किरण

1965 कापुरुष-ओ-महापुरुष (कायर और पवित्र आदमी)

निर्माता : आर डी बी एंड कंपनी (आर डी बंसल)। पटकथा : प्रेमेंद्र मित्रा की लघुकथा *जनायको कापुरुषेर* कहानी और परशुराम की *बिरिंची बाबा* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : नृपेन पाल, अतुल चटर्जी, सुजीत सरकार। अवधि : कापुरुष (75 मिनट), महापुरुष : (65 मिनट)।

कलाकार : **कापुरुष :** सौमित्र चटर्जी *(अमिताव राय),* माधवी मुखर्जी *(करुणा गुप्ता),* हरधन बनर्जी *(विमल गुप्ता)*।
महापुरुष चारुप्रकाश घोष *(बिरंची बाबा),* रवि घोष *(उनका सहायक),* प्रसाद मुखर्जी *(गुरुपद मितेर),* गीताली राय *(बुचकी),* सतीन्द्र भट्टाचार्य *(सत्य)* सोमेन बोस *(निवारण),* संतोष दत्ता *(प्रोफेसर ननी),* रेणुका राय *(ननी की पत्नी)*।

1966 नायक

निर्माता : आर डी बी एंड कंपनी (आर डी बंसल), मूल पटकथा : सत्यजीत राय, छायांकन : सुब्रत मित्रा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : नृपेन पाल, अतुल चटर्जी, सुजीत सरकार, अवधि : 120 मिनट।

कलाकार : उत्तम कुमार *(अरिंदम मुखर्जी),* शर्मीला टैगोर *(अदिती सेन गुप्ता),* वीरेश्वर सेन *(मुकुंद लाहिड़ी),* सोमेन बोस *(शंकर),* निर्मल घोष *(ज्योति),* प्रेमांशु बोस *(वीरेश),* सुमिता सान्याल *(प्रोमिला),* रंजीत सेन *(श्री बोस),* भारती देवी *(मनोरमा, उनकी पत्नी),* लाली चौधरी *(बुलबुल, उनकी बेटी),* कमु मुखर्जी *(प्रीतीश सरकार),* सुश्मिता मुखर्जी *(मौली, उनकी पत्नी),* सुब्रत सेन शर्मा *(अजय),* जमुना सिन्हा *(शेफालिका, उनकी पत्नी),* हीरालाल *(कमल मिश्रा),* जोगेश चटर्जी *(अघोरे, बुजुर्ग पत्रकार),* सत्या बनर्जी *(स्वामी जी),* गोपाल डे *(कंडक्टर)*।

1967 **चिड़ियाखाना (चिड़ियाघर)**

निर्माता : स्टार प्रोडक्शन (हरेन्द्रनाथ भट्टाचार्य), पटकथा : शरदिंदु बनर्जी के उपन्यास *चिड़ियाखाना* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : नृपेन पाल, अतुल चटर्जी, सुजीत सरकार, अवधि : 125 मिनट, लगभग।

कलाकार : उत्तम कुमार *(व्योमकेश बक्शी),* शैलेन मुखर्जी *(अजीत),* सुशील मजूमदार *(निशानाथ सेन),* कणिका मजूमदार *(दमयंती, उनकी पत्नी),* शुभेन्दु चटर्जी *(विजय),* श्यामल घोषाल *(डा. भुजंगधर दास),* प्रसाद मुखर्जी *(नेपाल गुप्ता),* सुबीरा राय *(मुकुल, उसकी बेटी),* नृपति चटर्जी *(मुश्किल मिया),* सुब्रत चटर्जी *(नासरा बीबी, उनकी पत्नी),* गीताली राय *(बनलक्ष्मी),* कालीपद चक्रवर्ती *(रसिक लाल),* चिन्मय राय *(राजगोपाल),* रमन मलिक *(जाहर गांगुली),* चिन्मय राय *(पणगोपाल),* निलातपाल डे *(इंस्पेक्टर)*।

1968 **गोपी गायने बाघा बायने (गोपी और बाघा के कारनामें)**

निर्माता : पूर्णिमा पिक्चर्स (नेपाल दत्ता, असीम दत्ता), पटकथा : उपेन्द्रकिशोर राय की कहानी से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय, गोपी के गीतों का गायक : अनूप कुमार घोषाल, नृत्य निर्देशन : शंभूनाथ भट्टाचार्य, ध्वनि : नृपेन पाल, अतुल चटर्जी, सुजीत सरकार, अवधि : 132 मिनट।

कलाकार : तपन चटर्जी *(गोपी),* रवि घोष *(बाघा),* संतोष दत्ता *(शुंडी का राजा/हल्ला का राजा),* जाहर राय *(हल्ला का प्रधानमंत्री),* शांति चटर्जी *(हल्ला का कमांडर-इन-चीफ),* हरीन्द्रनाथ चटर्जी *(बरफी, जादूगर),* चिन्मय राय *(हल्ला का जासूस),* दुर्गादास बनर्जी *(अमलोकी का राजा),* गोविंदा चक्रवर्ती *(गोपी का पिता),* प्रसाद मुखर्जी *(गांव के बुजुर्ग),* जयकृष्ण सान्याल, तरुण मित्रा, रतन बनर्जी, कार्तिक चटर्जी *(शुंडी राजदरबार के गायक),* गोपाल डे *(जल्लाद),* अजय बनर्जी, शैलेन गांगुली, मोनी श्रीमणि, विनय बोस, कार्तिक चटर्जी *(हल्ला के आगंतुक)*।

1969 **अरण्येर दिन रात्रि (जंगल में दिन और रात)**

निर्माता : प्रिया फिल्म्स (नेपाल दत्ता, असीम दत्ता), पटकथा : सुनील गांगुली के उपन्यास, *अरण्येर दिन रात्रि* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, पूर्णेंदु बोस, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सुजीत सरकार, अवधि : 115 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी (*असीम*), शुभेन्दु चटर्जी (*संजय*), स्मित भंज (*हरिनाथ*), रवि घोष (*शेखर*), पहाड़ी सान्याल (*सदाशिव त्रिपाठी*), शर्मिला टैगोर (*अपर्णा*),

कावेरी बोस (*जया*), सिमी ग्रेवाल (*दुली*), अपर्णा सेन (*आतशी*)।

1970 प्रतिध्वनि

निर्माता : प्रिया फिल्म्स (नेपाल दत्ता, असीम दत्ता), पटकथा : सुनील गांगुली के उपन्यास *प्रतिध्वनि* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, पुर्णेंदु बोस, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सुजीत सरकार, अवधि : 115 मिनट।

कलाकार : धृतमन चटर्जी *(सिद्धार्थ चौधरी)*, इंदिरा देवी *(सरोजिनी)*, देवराज राय *(तुनु)* कृष्णा बोस *(सुतापा)*, कल्याण चौधरी *(शिवेन)*, जयश्री राय *(केया)*, शेफाली *(लोतिका)*, सोवेन लाहिड़ी *(सान्याल)*, पीसू मजूमदार *(केया का पिता)*, धारा राय *(केया की चाची)*, ममता चटर्जी *(सान्याल की पत्नी)*।

1971 सीमाबद्ध (कंपनी लिमिटेड)

निर्माता : चित्रांजली *(भारत रामशेर जंग बहादुर राणा)*, पटकथा : शंकर के उपन्यास *सीमाबद्ध* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : जे डी इरानी, दुर्गादास मित्रा, अवधि : 112 मिनट।

कलाकार : वरुण चंदा *(श्यामल चटर्जी)*, शर्मीला टैगोर *(सुदर्शना, तुतुल के नाम से चर्चित)*, परुमिता चौधरी *(श्यामल की पत्नी)*, हरीन्द्रनाथ चटर्जी *(सर वीरेन राय)*, हरधन बनर्जी *(तालुकदार)*, इंदिरा राय *(श्यामल की मां)*, प्रमोद *(श्यामल के पिता)*।

1971 सिक्किम

निर्माता : सिक्किम के चोग्याल, आलेख और टीका : सत्यजीत राय, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सत्यजीत राय।

1972 द इनर आई

निर्माता : फिल्म प्रभाग, भारत सरकार, आलेख और टीका : सत्यजीत राय, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सत्यजीत राय।

1973 अशनि संकेत (अशुभ संकेत)

निर्माता : बालक मूवीज (सर्वाणी भट्टाचार्य), पटकथा : विभूति भूषण बनर्जी के उपन्यास *अशनि संकेत* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन :

दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : जे डी ईरानी, दुर्गादास मित्रा, अवधि : 101 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी *(गंगाचरण चक्रवर्ती)*, बबीता : *(अनंग, उसकी पत्नी)*, रमेश मुखर्जी *(विश्वास)*, चित्रा बनर्जी *(मोती)*, गोविंदा चक्रवर्ती (दीनबंधु), संध्या राय *(चुटकी)*, नोनी गांगुली *(डरावना, जादू)*, सेली पाल *(मोक्षदा)*, सुचिता राय *(खेंती)*, अनिल गांगुली *(निवारण)*, देवातोष घोष *(आधार)*।

1974 सोनार केल्ला (सुनहरा किला)

निर्माता : पश्चिम बंगाल सरकार, पटकथा : सत्यजीत राय द्वारा स्वयं के उपन्यास *सोनार केल्ला* से, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : जे डी ईरानी, अनिल तालुकदार। अवधि : 120 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी *(फेलु के नाम से चर्चित प्रदोष मित्तर)*, संतोष दत्ता *(जटायु के नाम से चर्चित लालमोहन गांगुली)*, सिद्धार्थ चटर्जी *(तपेश मित्तर उर्फ तापसे)*, कुशल चक्रवर्ती *(मुकुल धर)*, शैलेन मुखर्जी *(डा. हेमांश हाजरा)*, अजय बनर्जी *(अमियनाथ बर्मन)*, कमु मुखर्जी *(मंदर बोस)*, शांतनु बागची *(मुकुल 2)*, हरीन्द्रनाथ चटर्जी *(सिद्धू चाचा)*, सुनील सरकार *(मुकुल का पिता)*, सियुली मुखर्जी *(मुकुल की मां)*, हरधन बनर्जी *(तपेश का पिता)*, रेखा चटर्जी *(तपेश की मां)*, अशोक मुखर्जी *(पत्रकार)*, विमल चटर्जी *(वकील)*।

1975 जन अरण्य (बीच का आदमी)

निर्माता : इंडस फिल्म्स(सुबीर गुहा), पटकथा : शंकर के उपन्यास *जन अरण्य* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : जे डी ईरानी, अनिल तालुकदार, आदिनाथ नाग, सुजीत घोष, अवधि : 131 मिनट।

कलाकार : प्रदीप मुखर्जी *(सोमनाथ चटर्जी)*, सत्या बनर्जी *(सोमनाथ के पिता)*, दीपांकर डे *(भोमबोल)*, लिली चक्रवर्ती *(कमला, उनकी पत्नी)*, अपर्णा सेन *(सोमनाथ की महिला मित्र)*, गौतम चक्रवर्ती *(सुकुमार)*, सुदेशना दास *(जुथिका उर्फ करुणा)*, उत्पल दत्त *(विशु)*, रवि घोष *(श्री मित्तर)*, विमल चटर्जी *(आडोक)*, आरती भट्टाचार्य *(श्रीमती गांगुली)*, पद्मा देवी *(श्रीमती विश्वास)*, शोवेन लाहिड़ी *(गोयनका)*, संतोष दत्ता *(हीरालाल)*, विमल देव *(जगबंधु, विधायक/सांसद)*, अजेय मुखर्जी *(दलाल)*, कल्याण सेन *(श्री बक्शी)*, आलोकेंदु डे *(फकीर चंद, दफ्तरी)*।

1976 **बाला**

निर्माता : नेशनल सेंटर फार परफार्मिंग आर्ट, बंबई तथा तमिलनाडु सरकार, आलेख टीका : सत्यजीत राय, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : एस पी रामनाथन, सुजीत सरकार, डेविड, अवधि : 33 मिनट।

1977 **शतरंज के खिलाड़ी**

निर्माता : देवकी चित्र प्रोडक्शंस (सुरेश जिंदल), पटकथा : प्रेमचंद की लघुकथा *शतरंज के खिलाड़ी* से सत्यजीत राय द्वारा, संवाद : सत्यजीत राय, रामा जैदी, जावेद सिद्दकी, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : बंसी चंद्रगुप्ता, सहयोगी कला निर्देशक : अशोक बोस, वस्त्र-सज्जा : शमा जैदी, संगीत : सत्यजीत राय, गायक : रेवा मुहुरी, बिरजू महाराज, कलकत्ता यूथ कोर, नृत्य निर्देशन : बिरजू महाराज, नृत्य कलाकार : शास्वती सेन, गीतांजली, कथक बेले ट्रुप, ध्वनि : नरेन्द्र सिंह, समीर मजूमदार, अवधि : 113 मिनट।

कलाकर : संजीव कुमार *(मिर्जा सज्जाद अली)*, सईद जाफरी *(मीर रोशन अली)*, अमजद खान *(वाजिद अली शाह)*, रिचर्ड एटनबरो *(जनरल आर्टरम)*, शबाना आजमी *(खुर्शीद)*, फरीदा जलाल *(नफीसा)*, वीना *(आलिया बेगम, रानी मां)*, डेविड अब्राहम *(मुंशी नंदलाल)*, विक्टर बनर्जी *(अली नकी खान, प्रधानमंत्री)*, फारुख शेख *(आकील)*, टाम आल्टर *(केप्टन वेस्टन)*, लीला मिश्रा *(हिरिया)*, बेरी जान *(डा. जोसेफ फेरर)*, समर्थ नारायण *(कल्लू)*, बुधो आडवानी *(इम्तियाज हुसैन)*, कमु मुखर्जी *(बुक्की)*।

1978 **जय बाबा फेलूनाथ (गणेश देवता)**

निर्माता : आर डी बी एंड कंपनी (आर डी बंसल), पटकथा : सत्यजीत राय द्वारा स्वयं के उपन्यास *जय बाबा फेलूनाथ* से, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : रोबिन सेन गुप्ता, अवधि : 112 मिनट।

कलाकार : सोमित्र चटर्जी *(प्रदोष मित्तेर उर्फ फेलू)*, संतोष दत्ता *(लालमोहन गांगुली उर्फ जटायु)*, सिद्धार्थ चटर्जी *(तपेश मित्तर उर्फ तापसे)*, उत्पल दत्त *(मगनलाल मेघराज)*, जीत बोस *(रुकु घोषाल)*, हरधन बनर्जी *(उमानाथ घोषाल)*, विमल चटर्जी *(अंबिका घोषाल)*, विप्लव चटर्जी *(विकास सिन्हा)*, सत्या बनर्जी *(निवारण चक्रवर्ती)*, मलय राय *(गुणमय बागची)*, संतोष सिन्हा *(शशि पाल)*, मनु मुखर्जी *(मचली बाबा)*, इंदुभूषण गुजराल *(इंस्पेक्टर तिवारी)*, कमु मुखर्जी *(अर्जुन)*।

1980 हीरक राजार देशे (हीरों का साम्राज्य)

निर्माता : पश्चिम बंगाल सरकार, मूल पटकथा : सत्यजीत राय, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, गुपी के गीत के गायक : अनु कुमार घोषाल, ध्वनि : रोबिन सेन गुप्ता, दुर्गादास मित्रा, अवधि : 118 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी *(उदयन, स्कूल का शिक्षक)*, उत्पल दत्त *(राजा हीरक)*, तपेन चटर्जी *(गुपी)*, रवि घोष *(बाघा)*, संतोष दत्ता *(शुंडी का राजा)*, प्रमोद गांगुली *(उदयन के पिता)*, अल्पना गुप्ता *(उदयन की मां)*, रोबिन मजूमदार *(चरनदास)*, सुनील सरकार *(फजल मियां)*, ननी गांगुली *(बलराम)*, अजय बनर्जी *(विदूषक)*, कार्तिक चटर्जी *(दरबारी कवि)*, हरिधन मुखर्जी *(दरबारी-ज्योतिष)*, विमल देव, तरुण मित्रा, गोपाल डे, शैलेन गांगुली, समीर मुखर्जी *(सभी मंत्रीगण)*।

1980 पिकू

निर्माता : हैनरी फ्राईस, पटकथा : सत्यजीत राय द्वारा स्वयं की लघुकथा *पिकूर डायरी* से, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : रोबिन सेन गुप्ता, सुजीत सरकार, अवधि : 26 मिनट।

कलाकार : अर्जुन गुहाठाकुरता *(पिकू)*, अपर्णा सेन *(सीमा, उसकी मां)*, शोवेन लाहिड़ी *(रंजन)*, प्रमोद गांगुली *(दादाजी लोकनाथ)*, विक्टर बनर्जी *(चाचा हीतेश)*।

1981 सद्‌गति

निर्माता : दूरदर्शन, भारत सरकार, पटकथा : प्रेमचंद की लघुकथा *सद्‌गति* से सत्यजीत राय द्वारा, संवाद : सत्यजीत राय और अमृत राय, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : अमूल्य दास, अवधि : 52 मिनट।

कलाकार : ओम पुरी *(दुखी चमार)*, स्मिता पाटिल *(झुरिया, दुखी की पत्नी)*, ऋचा मिश्रा *(धनिया, दुखी की बेटी)*, मोहन अगाशे *(घासीराम)*, गीता सिद्धार्थ *(लक्ष्मी, घासीराम की पत्नी)*, भाईलाल हेडाओ *(गोंड)*।

1984 घरे बाहरे (घर और संसार)

निर्माता : राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम, भारत सरकार, पटकथा : रवीन्द्रनाथ टैगोर के उपन्यास *घरे बाहरे* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : सोमेंदु राय, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : रोबिन सेन गुप्ता, ज्योति चटर्जी, अनूप मुखर्जी, अवधि : 140 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी *(संदीप)*, विक्टर बनर्जी *(निखिलेश)*, स्वातिलेखा (विमला), गोपा आईच *(निखिलेश की साली)*, जेनीफर कपूर (केंडल) *(कुमरी गिल्बी, अंग्रेज गवर्नेस)*, मनोज मित्रा *(प्रधान अध्यापक)*, इंद्रप्रमित राय *(अमूल्य)*, विमल चटर्जी *(कुलादा)*।

1987 सुकुमार राय

निर्माता : पश्चिम बंगाल सरकार, पटकथा : सत्यजीत राय, टीका : सोमेंदु राय, छायांकन : वरुण बाबा, संपादन : दुलाल दत्ता, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सुजीत सरकार, अवधि : 30 मिनट।
कलाकार : सौमित्र चटर्जी, उत्पल दत्त, संतोष दत्ता, तपन चटर्जी।

1989 गणशत्रु (जनता का दुश्मन)

निर्माता : राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम, भारत सरकार, पटकथा : हैनरीक इब्सन के नाटक *एन एनीमी आफ द पिपुल* से सत्यजीत राय द्वारा, छायांकन : वरुण राहा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सुजीत सरकार, अवधि : 100 मिनट।

कलाकार : सौमित्र चटर्जी *(डा. अशोक गुप्ता)*, रूमा गुहा ठाकुरता *(माया, उनकी पत्नी)*, ममता शंकर *(इंद्राणी, उनकी बेटी)*, धृतिमन चटर्जी *(निशीथ)*, दीपांकर डे *(हरिदास बागची)*, शुभेन्दु चटर्जी *(वीरेश)*, मनोज मित्रा *(अधीर)*, विश्व गुहा ठाकुरता *(रानेन हलदार)*, राजाराम याग्निक *(भार्गव)*, सत्या बनर्जी *(मनमोथा)*, गोविंदा मुखर्जी *(चंदन)*।

1990 शाखा प्रशाखा (पेड़ की शाखायें)

निर्माता : सत्यजीत राय प्रोडक्शंस (इंडिया), गेरांड डेपारडेय और डेनियल तोस्कान ड्यू प्लेनटर (पेरिस), पटकथा : सत्यजीत राय, छायांकन : वरुण राहा, संपादनः दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सुर्जीत सरकार, अवधि : 121 मिनट।

कलाकार : प्रमोद गांगुली, अजीत बनर्जी, सौमित्र चटर्जी, हरधन बनर्जी दीपांकर डे, रंजीत मलिक, ममता शंकर, लिली चक्रवर्ती।

1991 आगंतुक

निर्माता : राष्ट्रीय फिल्म विकास निगम, भारत सरकार, मूल पटकथा : सत्यजीत राय, छायांकन : वरुण राहा, संपादन : दुलाल दत्ता, कला निर्देशक : अशोक बोस, संगीत : सत्यजीत राय, ध्वनि : सुजीत सरकार, अवधि : 100 मिनट।

कलाकार : उत्पल दत्त, दीपांकर डे, ममता शंकर

अनुक्रमणिका

दि सेन्ट्रल इलैक्ट्रिक प्रेस, ए-12/1 नरायणा इन्डस्ट्रियल एरिया-I, नई दिल्ली 110028 द्वारा मुद्रित